मङ्गल शासन

भाग: 2

प्रकाशक:
मङ्गल
विद्यापीठ
तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-२०४२१६ (अलीगढ़) उत्तरप्रदेश

ॐ

॥ नमः श्री सिद्धेभ्यः ॥

मंगल शासन

(द्वितीय भाग)

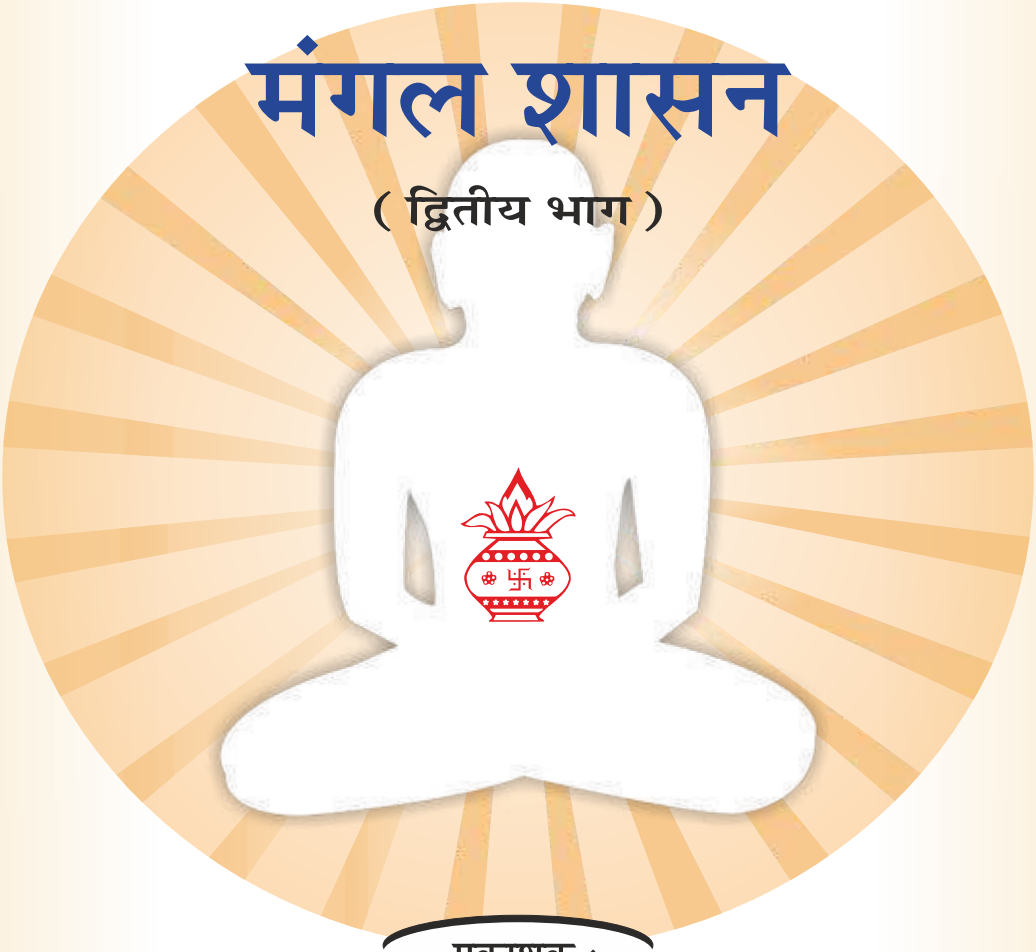

प्रकाशक :

मङ्गल विद्यापीठ

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

mob. : 91-8191900042, e-mail : mangalvidyapeeth@gmail.com

हमारे जीवनशिल्पी
धर्मपिता
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के कर-कमलों में
सविनय समर्पित!

हम हैं आपके,
नन्हें-मुन्नें ज्ञायक

प्रस्तावना

जैनदर्शन में तीर्थंकर, धर्म के संस्थापक नहीं होते, वे तो प्रवर्तक होते हैं, प्रचारक होते हैं।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर, शासननायक भगवान महावीर तक यह प्रवाह निरंतर चलता रहा। महावीर भगवान के निर्वाण होने के पश्चात् कुछ केवलियों और श्रुतकेवलियों ने इसी शृंखला को आगे बढ़ाया। विशेष ज्ञानियों का अभाव होने पर, मुनि परंपरा में यह विकल्प हुआ कि पंचम काल के अंतपर्यंत यदि जिनशासन को सुरक्षित करना है, तो सत्यमार्ग को जन-जन तक पहुँचाना होगा और इसके लिए जिनागम को लिपिबद्ध करना होगा। इसीलिए पुष्पदन्ताचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य आदि वीतरागी महर्षियों ने समय-समय पर वीतरागता के पोषक ग्रन्थों के लेखन का दुरूह कार्य किया।

काल के ओघ से जब यह वाणी, मंदबुद्धियों को समझने में दुर्गम हुई, तब उन ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी गयीं। वीतरागी संतों का भी विरह-सा होता देखकर, कविवर पण्डित बनारसीदासजी, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी जैसे समर्थ विद्वानों ने उन टीकाओं का सरलीकरण किया। इसे भी सरल-सुगम करने हेतु आज के परिप्रेक्ष्य में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सरलतम शब्दों में 45 वर्षों तक लगातार अमृतवर्षा की, जिससे प्रेरित होकर आज हजारों विद्वानों की सृष्टि हुई। हमारे ऊपर इन सबके अनंत उपकार हैं।

मङ्गल विद्यापीठ को यह विकल्प आया कि विद्वानों का योग सबको हो, यह जरूरी नहीं है। आज विषयों की अन्धी भाग-दौड़ के इस काल में समय की अनुकूलता मिलना दुर्लभ है। बीमारी आदि से ग्रस्त होने के कारण भी साधारणजन शास्त्र-सभाओं में जाकर, स्वाध्याय का लाभ नहीं ले सकते। किसी सुयोग से स्वाध्याय के समय की अनुकूलता भी हो तथा स्वास्थ्य भी ठीक हो, पर चारों अनुयोग के ज्ञाता विद्वान की प्राप्ति दुर्लभ है।

मङ्गल विद्यापीठ ने निर्णय किया कि ऐसा कोई सर्वजनहिताय उपक्रम

प्रारम्भ किया जाए; जिसमें लघु वय से ही मुमुक्षुता को योग्य पोषण मिलता रहे। देश-विदेश के किसी भी कोने में बैठकर, कोई भी उपासक, समस्त विषयों का सांगोपांग अध्ययन कर सके और उसकी समय-समय पर परीक्षा भी होती रहे। परीक्षा के लिए लिखित या On-Line का भी विकल्प रहे। साथ-साथ समय-समय पर श्रोताओं की जिज्ञासानुसार, नियमित अथवा प्रासंगिक कक्षाओं का Video Conference द्वारा भी आयोजन हो।

मङ्गल विद्यापीठ का यह भी भाव है कि एक **'मङ्गल जिज्ञासा'** उपक्रम चले, जिसमें समय-समय पर श्रोताओं से प्रश्न पूछे जाएँ और उत्तरदाताओं को पुरस्कृत भी किया जाए। साथ ही एक **'मङ्गल समाधान'** उपक्रम चले, जिसमें श्रोताओं की जिज्ञासाओं का तत्काल समाधान मिलने का यह केन्द्रबिंदु बने, जिसमें किसी भी अनुयोग की शंकाओं का निराकरण, आगम तथा युक्ति से हमारी विद्वत् मंडली के सदस्यों द्वारा किया जाए। हम चाहते हैं कि ज्ञान के प्रचार-प्रसार के अभियान के इस यज्ञ में आप भी हमारे सहभागी बनें।

इन भागों को बनाने में हमने पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर आदि संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का सहयोग लिया है। हम उसके लिए सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
	समयसार स्तुति	1
1	वैराग्य-भावना	2
2	धर्म	6
3	सप्त व्यसन	9
4	मुनि का सहज जीवन	13
5	जैन भूगोल	18
6	चार अनुयोग	25
7	जैन रामायण	29
8	सात तत्त्वों सम्बन्धी भूल	34
9	अहिंसा : एक विवेचन	37
10	जैनधर्म का गौरवशाली इतिहास	41
11	लक्षण और लक्षणाभास	46
	नीरव निर्झर	51

श्री समयसार-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी।
सरिता बहावी सुधा तणी प्रभु वीर! तें संजीवनी॥
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी।
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी॥

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्यूँ शास्त्र, साँथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामाँ भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षु ने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी।
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तूँ छै निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तूँ प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा।
साथी साधकनो, तुँ भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
वीसामो भवक्लांतना हृदयनो, तूँ पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सूण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय।
तूँ रूचताँ जगतनी रुचि आलसे सौ,
तूँ रीझताँ सकल ज्ञायक देव रीझे।

(अनुष्टुभ्)

बनावुँ पत्र कुंदननाँ, रत्नोंना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोना अंकाये मूल्य ना कदी।

पाठ 1

वैराग्य भावना

पण्डित भूधरदासजी कृत

(दोहा)

बीज राख फल भोगवै, ज्यों किसान जग माहिं।
त्यों चक्री नृप सुख करै, धर्म विसारै नाहिं ॥1 ॥

(जोगीरासा या नरेन्द्र छन्द)

इह विध राज करै नर नायक, भोगै पुण्य विशाल।
सुख सागर में रमत निरन्तर, जात न जान्यो काल॥
एक दिवस सुभ कर्म संयोगे, क्षेमंकर मुनि वन्दे।
देखि श्री गुरु के पद पंकज, लोचन अलि आनन्दे ॥2 ॥

तीन प्रदक्षिण दे सिर नायो, कर पूजा थुति कीनी।
साधु समीप विनय कर बैठ्यौ, चरनन में दिठि दीनी॥
गुरु उपदेश्यौ धर्म सिरोमणि, सुन राजा वैरागे।
राज रमा वनितादिक जे रस, ते रस बेरस लागे॥3॥

मुनि सूरज कथनी किरणावलि, लगत भरम बुधि भागी।
भव तन भोग स्वरूप विचार्यौ, परम धरम अनुरागी॥
इह संसार महावन भीतर, भ्रमतैं ओर न आवै।
जामन मरण जरा दव दाझै, जीव महा दुःख पावै॥4॥

कबहुँ जाय नरक थिति भुंजे, छेदन भेदन भारी।
कबहुँ पशु परजाय धरै तहँ, वध बन्धन भयकारी॥
सुरगति में परसम्पति देखे, राग उदय दुख होई।
मानुषयोनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई॥5॥

कोई इष्ट वियोगी विलखै, कोई अनिष्ट संयोगी।
कोई दीन दरिद्री विगूचै, कोई तन के रोगी॥
किसही घर कलिहारी नारी, कै बैरी सम भाई।
किसही के दुख बाहिर दीखे, किसही उर दुचिताई॥6॥

कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तब रोवे।
खोटि संततिसों दुख उपजै, क्यों प्राणी सुख सोवे॥
पुण्य उदय जिनके तिनके भी, नाहिं सदा सुख साता।
यह जगवास जथारथ देखे, सब दीखै दुख दाता॥7॥

जो संसार विषैं सुख हो तो, तीर्थंकर क्यों त्यागै।
काहे कौं सिव साधन करते, संजमसों अनुरागै॥
देह अपावन अथिर घिनावन, यामें सार न कोई।
सागर के जलसों सुचि कीजै, तो भी सुद्ध न होई॥8॥

सप्त कुधातु भरी मल मूरत, चाम लपेटी सोहै।
अन्तर देखत या सम जग में, अवर अपावन कौ है॥
नव मल द्वार स्रवैं निसि-वासर, नाम लिये घिन आवै।
व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै॥9॥

पोषत तो दुख दोष करै अति, सोषत सुख उपजावै।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढावै॥
राचन जोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है।
यह तन पाय महा तप कीजे, यामें सार यही है॥10॥

भोग बुरे भव-रोग बढावैं, बैरी हैं जग जी के।
बेरस होंय विपाक समय अति, सेवत लागे नीके॥
बज्र अगनि विष-से विषधर-से, ये अधिके दुखदाई।
धर्म रतन के चोर चपल अति, दुर्गति पन्थ सहाई॥11॥

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जानैं।
ज्यों कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन मानैं॥
ज्यों-ज्यों भोग संजोग मनोहर, मन वांछित जन पावै।
तृष्णा नागिन त्यों-त्यों डंके, लहर जहर की आवै॥12॥

मैं चक्री पद पाय निरन्तर, भोगे भोग घनेरे।
तो भी तनिक भये नहिं, पूरन, भोग मनोरथ मेरे॥
राज समाज महा अघ कारण बैर बढावनहारा।
वेश्या सम लक्ष्मी अति चंचल, याका कौन पत्यारा॥13॥

मोह महा रिपु बैर विचार्यो, जगजिय संकट डारे।
तन कारागृह वनिता बेड़ी, परिजन जन रखवारे॥
सम्यक्दर्सन ज्ञान चरन तप, ये जियके हितकारी।
ये ही सार असार और सब, यह चक्री चितधारी॥14॥

छोड़े चौदह रत्न नवो निधि, अरु छोड़े संग साथी।
कोड़ि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी॥
इत्यादिक सम्पति बहुतेरी, जीरण तृण सम त्यागी।
नीति विचार नियोगी सुत को, राज्य दियौ बड़भागी॥15॥

होय निशल्य अनेक नृपति संग, भूषण वसन उतारे।
श्री गुरु चरन धरी जिनमुद्रा, पंच महाव्रत धारे॥
धनि यह समझ सुबुद्धि जगोत्तम, धनि यह धीरजधारी।
ऐसी सम्पति छोड़ बसे वन, तिन पद धोक हमारी॥16॥

(दोहा)

परिग्रह पोट उतार सब, लीनों चारित पन्थ।
निज स्वभाव में थिर भये, बज्रनाभि निरग्रन्थ॥

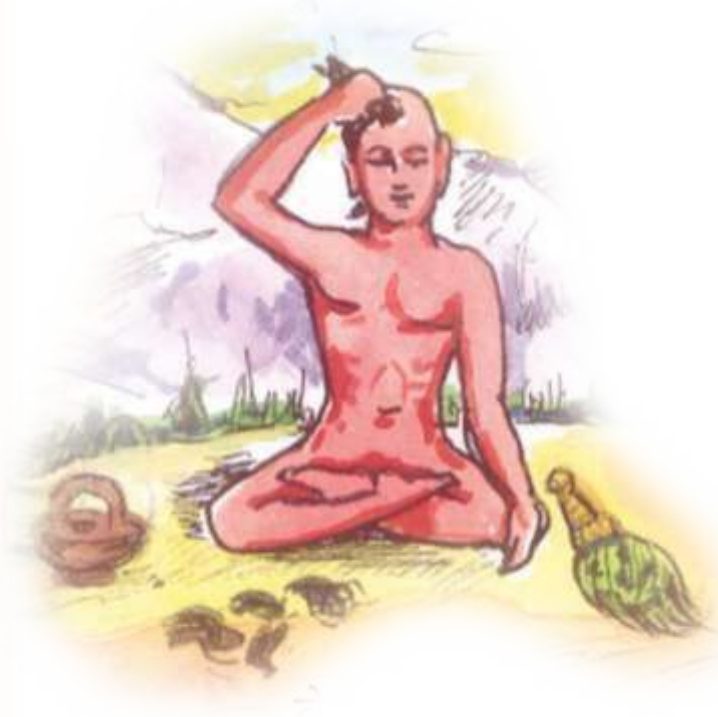

प्रश्न –

1. वैराग्यभावना में शरीर की अशुचिता को किस प्रकार दर्शाया गया है ?
2. बज्रनाभि चक्रवर्ती के वैराग्य का कारण क्या हुआ ?
3. वैराग्यभावना में आये, चारों गतियों के दु:ख बताएँ।

पाठ 2

धर्म

बड़ी दुर्लभता से, भोगों और पापों से सुखबुद्धि छूटकर, धर्म में सुखबुद्धि होती है। देह को विषयों की प्राप्ति कराके, आज का दिन सरकाने में ही तो भोगी अपनी सफलता मानता है। दूसरी तरफ, कुछ धर्मेच्छुक भाई 'धर्म से ही सुख होता है, पाप से तो दुःख होता है' - ऐसा मानते हुए भी, सच्चा धर्म नहीं जानते हुए, धर्म के नाम पर अपने मानव पर्याय की अमूल्य धरोहर, अधर्म में लगाकर, अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। सच्चे धर्मार्थी को जिस धर्म की तलाश अनादि से है, उसका उद्घाटन किया जा रहा है।

मङ्गलार्थियो ! धर्म क्या चीज़ है, इसे विचारो ! जो धारण किया जाए, वह धर्म कहलाता है। गुण, स्वभाव, Property, धर्म के पर्यायवाची नाम हैं। उदाहरण के लिए अग्नि वस्तु का धर्म, उष्णता है; नमक का धर्म, खारापन है आदि। वस्तु अपने धर्म को कभी नहीं छोड़ती; दोनों अभिन्न होते हैं। इस न्याय से प्रत्येक वस्तु, धर्मात्मा ही है।

ग्रन्थाधिराज कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्म की यही परिभाषा दी है - **'वत्थु सहावो धम्मो'**। आत्मा, ज्ञानमयी है; अत: ज्ञान ही आत्मा का धर्म है। यह त्रिकाल वर्तनेवाला धर्म है। आत्मा का तथा ज्ञान का कभी भी वियोग नहीं होता। निगोद से लेकर, केवलियों तक की समस्त जीवराशि, इसी ज्ञानरूप धर्ममय है।

सभी जीवों का धर्म, जानना (ज्ञान) होने पर भी, अज्ञानी जीव, यथार्थ का स्वीकार नहीं करता हुआ, शरीरादि अड़ोसी-पड़ोसियों को अपना मान लेता है। जीव, कभी पुद्गलरूप नहीं होता - ऐसा भान, अज्ञानी को नहीं होता। अज्ञानी जीव, चोर की भाँति पराई वस्तु पर अपना अधिकार स्थापित करता है।

इसके विपरीत भेदज्ञानी, ईमानदार साहूकार की भाँति अपनी वस्तु को ही अपनी मानता है। प्रसंगवश अन्य की वस्तु अपने पास होते हुए भी, उसमें अपनत्व नहीं करता। उसे अपने त्रिकाल धर्म का भान है; अत: उसके इस भान को / समझ को भी धर्म कहते हैं। यह समझ, सम्यक्श्रद्धा के साथ ही होती है। ऐसी यथार्थ समझ के फलस्वरूप, तत्काल ही राग -द्वेष की निवृत्ति होती है। इसे चारित्र कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता, पर्यायरूप धर्म है।

समन्तभद्राचार्यदेव, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में धर्म की यही परिभाषा लिखते हैं —

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥3॥

मोक्ष की प्राप्ति का भी यह ही उपाय है, ऐसी बात भी इस पद्य से फलित होती है।

स्वयं को आत्मा जानने, मानने तथा उसी में रमने के फलस्वरूप यह धर्मात्मा, पर्याय में भी धर्मात्मा नाम पाता है। वह लोक की प्रशंसा का पात्र बनता है। ऐसा धर्मात्मा (धार्मिक), ही धर्म के प्रचार-प्रसार का स्रोत बनता है।

'न धर्मो धार्मिकैः विना' का यही आशय है।

साथ ही आचार्यदेव यह भी कहते हैं कि धर्म वह है, जिससे कर्म का अभाव (पाप तथा पुण्यकर्म का नाश) हो तथा जो प्राणियों को, संसार से, दुःखों से निकालकर, उत्तम सुखों को प्राप्त कराए।

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥2॥

अपने आत्मा को अपनत्वरूप से स्वीकार करने पर जो चारित्र उत्पन्न होता है; वह मोह, राग, द्वेष से रहित होने से, उसे समभाव भी कहते हैं। स्वभाव के अनुरूप ही पर्याय शुद्ध होती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में ऐसा ही खुलासा किया है —

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥7॥

विषयों में उलझकर, आज तक हमने अपने आत्मा को चतुर्गति में भरमाया, उसको दुःखी किया। यह स्वयं के प्रति की गयी निर्दयता है /आत्मघात है। वस्तुस्वरूप विचारने पर / स्वयं की आत्मपने स्वीकृति होने पर, भव-भ्रमण का अन्त होता है। यह स्वयं के प्रति की गई दया है; इसीलिए **दया को धर्म** कहा है। क्रोधादि कषायों की निवृत्ति के फलस्वरूप उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य प्रगट होता है; इसीलिए **धर्म, क्षमादि दसरूप भी कहा जाता है।**

ध्यान रखना! क्षमादिभाव, दया आदि परिणाम, रत्नत्रय अथवा समता, ये पर्याय में प्रगट होनेवाले धर्म हैं। ये सब स्वभावभूत ज्ञानधर्म के आश्रय से होते हैं। ज्ञानादि अनन्त धर्मों का स्वामी, ऐसा मैं, त्रिकाल धर्मात्मा हूँ।

रत्नत्रय की प्राप्ति होने के बाद, साधकदशा में / चारित्र की अपूर्णता में, अन्य जीवों की रक्षादि के भाव होते हैं; क्षमा, मार्दव आदि का भी शुभभाव होता है। इन शुभभावों को भी उपचार से धर्म कहते हैं, मोक्ष का कारण कहते हैं; परन्तु विचार करने पर, यह समझ में आता है कि यदि शुभभाव से मोक्ष कहेंगे,

तो पुण्यबन्ध किससे कहेंगे ? अत: ये शुभ-विकल्प, बंध के कारण हैं और धर्म तो कर्म के अभाव को कहते हैं; अत: परोपकारी दया, क्षमादिभाव व्यवहारधर्म हैं।

धर्म एक है, उसका निरूपण भले ही अनेक प्रकार से होता हो। मंगलोत्तम शरण पाठ में, **केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं** लिखा है। अरहन्ता, सिद्धा, साहू कहने पर भी, धम्मा नहीं कहकर, इस पाठ में 'धम्मो' शब्द का प्रयोग किया है; क्योंकि अरहन्त, सिद्ध तथा साधु तो अनेक होते हैं, पर धर्म तो एक ही होता है।

पण्डित जयचन्दजी ने धर्म का समग्ररूप निम्न छन्द में समेटा है—

दर्शज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि।
दया क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि॥

मङ्गलार्थियो! धर्म, पैसे के बदले में नहीं आता है, दान-सम्मानादि द्वारा ग्राह्य नहीं है; किसी का दिया नहीं मिलता है, जो सेवा-उपासना द्वारा प्रसन्न करके ले लिया जाए; मन्दिर, पर्वत, जल, अग्नि, देवमूर्ति, तीर्थ-क्षेत्रादि में नहीं रखा है, जो वहाँ जाकर ले आएँ; उपवास, व्रत, काय-क्लेशादि तप में भी नहीं मिलता तथा शरीरादि कृश करने से भी नहीं मिलता है। मन्दिर में उपकरण दान, मण्डल पूजन आदि करके, घर छोड़कर, वन-श्मशान आदि में निवास करने से तथा परमेश्वर के नाम-जाप आदि करके भी धर्म नहीं मिलता है, क्योंकि धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, वह आत्मा के आश्रय से मिलता है।

प्रश्न -

1. स्वभावभूतधर्म तथा पर्याय में प्रगट होनेवाले धर्म में क्या सम्बन्ध है ?
2. धर्म की समस्त परिभाषाओं में समन्वय करें।
3. निश्चयधर्म तथा व्यवहारधर्म में अन्तर स्पष्ट करें।

यदि कोई दुष्ट जीव धर्म से बैर करके मंदिर-प्रतिमा का विघ्न करना चाहे तो उसे अपने सामर्थ्य से रोका जा सके तो रोके। अपने से प्रबल हो तो विचार करे कि—काल के निमित्त से धर्म का घातक होकर प्रगट अपना बैर साध रहा है, प्रबल है, कैसे रुकेगा ? हमारे उत्तमक्षमादि तथा सम्यग्ज्ञान-श्रद्धानादि धर्म को घातने में कोई समर्थ नहीं है। मंदिर आदि तो दुष्ट बिगाड़ते ही हैं और धर्मात्मा पुन: बनवाते ही हैं। काल के निमित्त से (पंचम काल के दोष से) अनेक दुष्ट उत्पन्न होते हैं, उन्हें रोकने में कौन समर्थ है ? **भावी बलवान है।** यदि अच्छी होनहार होती तो दुष्ट मिथ्यादृष्टि प्रबल बल के धारक नहीं उत्पन्न होते। इसलिए वीतरागता ही हमारे लिए परमशरण है। इस प्रकार वात्सल्य नाम का सप्तम अंग का वर्णन किया। *- श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ 34*

पाठ 3

सप्त व्यसन

कविवर पण्डित बनारसीदासजी

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

अध्यात्म और काव्य, दोनों क्षेत्रों में सर्वोच्च प्रतिष्ठाप्राप्त पण्डित बनारसीदासजी सत्रहवीं शताब्दी के रससिद्ध कवि और आत्मानुभवी विद्वान थे।

आपका जन्म श्रीमाल वंश में लाला खरगसेन के यहाँ वि.सं. 1643 में माघ सुदी एकादशी रविवार को हुआ था। उस समय इनका नाम विक्रमजीत रखा गया था; परन्तु बनारस की यात्रा के समय पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी के नाम पर इनका नाम बनारसीदास रखा गया। ये अपने माँ-बाप की इकलौती सन्तान थे।

आपने अपने जीवन में बहुत से उतार-चढाव देखे थे। आर्थिक विषमता का सामना भी आपको बहुत बार करना पड़ा तथा आपका पारिवारिक जीवन भी कोई अच्छा नहीं रहा। आपकी तीन शादियाँ, नौ सन्तानें हुईं (7 पुत्र एवं 2 पुत्रियाँ); पर एक भी जीवित नहीं रहीं। ऐसी विषम-परिस्थिति में भी आपका धैर्य भंग नहीं हुआ; क्योंकि वे आत्मानुभवी पुरुष थे।

काव्य-प्रतिभा तो आपको जन्म से ही प्राप्त थी। चौदह वर्ष की उम्र में आप उच्चकोटि की कविता करने लगे थे, पर प्रारम्भिक जीवन में शृंगारिक कविताओं में मग्न रहे। इनकी सर्व प्रथम कृति 'नवरस' चौदह वर्ष की उम्र में तैयार हो गई थी, जिसमें अधिकांश शृंगाररस का ही वर्णन था। यह इस रस की एक उत्कृष्ट कृति थी, जिसे विवेक जागृत होने पर कवि ने गोमती नदी में बहा दिया।

इसके पश्चात् आपका जीवन अध्यात्ममय हो गया और उसके बाद की आपके द्वारा रचित चार रचनाएँ प्राप्त हैं - नाटक समयसार, बनारसीदास विलास, नाममाला और अर्द्धकथानक।

'नाटक समयसार' अमृतचन्द्राचार्य के कलशों का एक तरह से पद्यानुवाद है; किन्तु कवि की मौलिक सूझबूझ के कारण, इसके अध्ययन में स्वतन्त्र कृति-सा आनन्द आता है। यह ग्रन्थराज अध्यात्मरस से सराबोर है।

'बनारसी-विलास' कवि की अनेक रचनाओं का संग्रह-ग्रन्थ है; 'नाममाला' कोश-काव्य है।

'अर्धकथानक' हिन्दी भाषा का प्रथम आत्म-चरित्र है, जो कि अपने आपमें एक प्रौढतम कृति है। इसमें कवि का 55 वर्ष का जीवन आइने के रूप में चित्रित है।

कवि अपनी आत्म-साधना और काव्य-साधना दोनों में ही बेजोड़ रहे हैं।

सप्त व्यसन

जुआ आमिष मदिरा दारी,
आखेटक चोरी परनारी।
एही सात व्यसन दुखदाई,
दुरित मूल दुर्गति के भाई॥
दर्वित ये सातों व्यसन, दुराचार दुखधाम।
भावित अंतर-कल्पना, मृषा मोह परिणाम॥

अशुभ में हार, शुभ में जीत, यहै द्यूत कर्म।
देह की मगनताई, यहै मांस भखिबो॥
मोह की गहल सों अजान, यहै सुरापान।
कुमति की रीति गणिका को रस चखिबो॥
निर्दय ह्वै प्राण-घात करबो, यहै शिकार।
पर-नारी संग पर-बुद्धि को परखिबो॥
प्यार सौं पराई सौंज गहिबे की चाह चोरी।
एई सातों व्यसन विडारि ब्रह्म लखिबो॥

— पण्डित बनारसीदासजी

जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरापान करना, वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्री-सेवन करना - ये सात व्यसन हैं।

किसी भी विषय में लवलीन होने को अर्थात् आदत को व्यसन कहते हैं। यहाँ बुरे विषय में लीन होना, व्यसन कहा गया है और इसके सात भेद कहे हैं, जो जीवों में प्रमुख रूप से आकुलता पैदा करते हैं और दुराचारी बनाते हैं। वैसे, राग-द्वेष और आकुलता उत्पन्न करनेवाली सभी आदतें व्यसन ही हैं। निश्चय से जो आत्मा के स्वरूप को भुला दें, वे मिथ्यात्व से युक्त राग-द्वेष परिणाम ही व्यसन हैं।

1. जुआ - हार-जीत पर दृष्टि रखते हुए, रुपये-पैसे या किसी प्रकार के धन से कोई भी खेल-खेलना या शर्त लगाकर कोई काम करना या दाव लगाकर अधिक लाभ की आशा या हानि का भय होना, द्रव्य-जुआ है।

शुभ (पुण्योदय) में जीत (हर्ष) तथा अशुभ (पापोदय)

में हार (विषाद) मानना, भावजुआ है। इस भाव (मान्यता) का त्याग ही सच्चा जुआ त्याग है।

2. मांस खाना – मारकर या मरे हुए जीवों का कलेवर खाने में आसक्त रहना एवं भक्षण करना, द्रव्यमांस खाना नामक व्यसन है।

देह में मगन रहना अर्थात् शरीर के पुष्ट होने पर अपना (आत्मा का) हित एवं शरीर के दुबले होने पर अपना (आत्मा का) अहित मानना, भावमांस खाना नामक व्यसन है।

3. मदिरापान – शराब, भांग, चरस, गांजा आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करना, द्रव्यमदिरापान है।

तथा मोह में पड़कर आत्मस्वरूप से अनजान रहना, भावमदिरापान है।

4. वेश्यागमन – वेश्या से रमना, उसके घर आना-जाना, द्रव्यरूप से वेश्यागमन है।

खोटी बुद्धि में रमने का भाव, भाववेश्यागमन है अर्थात् अपने आत्मस्वभाव को छोड़, विषय-कषाय में बुद्धि रमना ही, भाववेश्यारमण है। वेश्या, धन, स्वास्थ्य तथा इज्जत नष्ट कर छोड़ देती है, पर मिथ्यामति (कुबुद्धि) तो आत्मा की प्रतिष्ठा को हर कर, अनन्त काल के निगोद के दुःखों में ढकेल देती है।

5. शिकार – जंगल के रीछ, बाघ, हिरण, सुअर वगैरह

स्वच्छन्द फिरनेवाले जानवरों को तथा छोटे-छोटे पक्षियों को निर्दय होकर बन्दूक आदि किसी भी हथियार से मारना व मारकर आनन्दित होना, द्रव्यरूप से शिकार खेलना है।

तीव्र रागवश ऐसे कार्य करने के भावों द्वारा अपने चैतन्यप्राणों का घात करना, यह भावरूप से शिकार खेलना है।

6. परस्त्रीरमण – अपनी धर्मानुकूल ब्याही हुई पत्नी को छोड़कर, अन्य स्त्रियों के साथ रमण करना, द्रव्यपरस्त्रीरमण नामक व्यसन है।

तत्त्व को समझने का यत्न न करके, दूसरों की बुद्धि की परख में ही ज्ञान का सदुपयोग मानना, वह भावपरस्त्रीरमण है।

7. चोरी – प्रमाद से बिना दी हुई किसी वस्तु को ग्रहण करना, द्रव्यचोरी है।

तथा प्रीतिभाव (मोहभाव) से परवस्तु से साझेदारी की चाह करना (अपना मानना) ही भावचोरी है।

इन सात व्यसनों को त्यागे बिना, आत्मा को नहीं जाना जा सकता है।

जिसे संसार के दु:खों से अरुचि हुई हो और आत्मस्वरूप प्राप्त कर सच्चा सुख प्राप्त करना हो, उसे सर्व प्रथम उक्त सात व्यसनों का त्याग अवश्य ही कर देना चाहिए; क्योंकि जब तक एक भी व्यसन रहेगा, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मरुचि से आत्मस्वभाव की वृद्धि में आनन्दित होने से, भावव्यसन सहज छूट जाते हैं। ये सातों व्यसन वर्तमान में भी प्रत्यक्षरूप से दु:खदाई एवं जगत-निन्द्य हैं। व्यसन सेवन करनेवाले व्यसनी और दुराचारी कहलाते हैं।

प्रश्न –

1. कविवर पंडित बनारसीदासजी के व्यक्तित्व व कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।
2. व्यसन किसे कहते हैं ? वे कितने होते हैं ? नामसहित गिनाइए।
3. द्रव्यजुआ, भावमदिरापान, भावपरस्त्रीरमण और द्रव्यशिकार व्यसन को स्पष्ट कीजिए।
4. निम्नलिखित पंक्तियों को स्पष्ट कीजिए –

   (क) 'देह की मगनताई, यहै मांस भखिबो।'

   (ख) 'प्यार सौं पराई सौंज गहिबे की चाह चोरी।'

पाठ 4

मुनि का सहज जीवन

सौ सुनार की, एक लुहार की। मोक्षमार्ग का, कई बार उपदेश सुनने पर भी, किसी के समझ में मोक्षमार्ग न आए, तो उसे जैनशासन की खुली पुस्तक, जीव का प्राकृतिकरूप, चलते-फिरते सिद्ध, मुनिदशा दर्शाई जाए, तो समझनेवाले को ईशारा काफी हो सकता है। मुनिराज का अन्तरंग जीवन तो प्रचुर स्वसंवेदन है, आत्मा की विशेष स्थिरता है; पर जगतवालों को, अन्तरंग की निर्मलता दृष्टिगोचर नहीं होती है; अतः इस भावलिंग के द्वारा मुनि की परीक्षा असम्भव है। यह भावलिंग क्षणस्थाई होने से, इसके जरिए परीक्षा करना, प्रायोगिक भी नहीं है। मुनिवरों के कषायकणिका शेष रहने से, शुभोपयोग की दशा में सहजरूप से, जो शरीर की क्रियाएँ होती हैं, बाह्य जीवन होता है, उन्हें 28मूलगुणों में विभाजित किया गया है। इन्हीं अट्ठाईस मूलगुणों से मुनिवरों की परीक्षा सम्भव तथा प्रायोगिक है। इस पाठ में श्रमणोपासकों को श्रमणों के इन अट्ठाईस मूलगुणों का बोध कराया जा रहा है।

जीव का लक्ष्य, पापों से निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति है। एकदेशरूप से पापों का त्याग करनेवाले गृहस्थ, अणुव्रती होते हैं। ये श्रावक अल्प पुरुषार्थी हैं। ये ही श्रावक कालान्तर में अपने पुरुषार्थ की वृद्धि करते हुए महाव्रती होते हैं। महाव्रती पापों का सर्वथा त्याग करते हैं। सावद्ययोग विरति के स्वामी ये मुनिवर, 108कोटि से पाप के त्यागी हैं।

मुनिराजों के पाँच महाव्रत होते हैं। इन पंच महाव्रतों की रक्षा के लिए तेईस शीलव्रत होते हैं। मुनियों के कुल 28मूलगुण होते हैं। उन्हें क्रमशः समझते हैं —

1. अहिंसा महाव्रत :- साधुगण, षट्काय जीवों* की हिंसा के त्यागी हो गए हैं। अन्तरंग में भी समस्त राग-द्वेष का निवारण करते हैं। धूप से छाया में तथा छाया से धूप में जाते समय, पिच्छी से अपने शरीर का परिमार्जन करते हैं; इससे धूप के जीव, छाया में तथा छाया के जीव, धूप में नहीं जाने से, उनका मरण नहीं होता। यहाँ श्वास में जो वायुकायिकादि जीवों की हिंसा होती है, उसका त्याग ग्राह्य नहीं है क्योंकि ऐसा करना असम्भव है।

2. सत्य महाव्रत - मुनिगण, अपने प्राणों पर संकट आने पर भी कभी झूठ नहीं बोलते। वे

* त्रस तथा पाँच स्थावर इस प्रकार छह प्रकार के जीव

अनुवीचिभाषण* के धारी हैं; अत: वस्तुस्वरूप का यथार्थ ही निरूपण करते हैं। वे राग-द्वेषवश किंचित् भी झूठ नहीं बोलते हैं।

3. अचौर्य महाव्रत – साधु-परमेष्ठी, बिना दी हुई कोई भी वस्तु नहीं लेते। संयम का उपकरण (पिच्छी) तथा शुचिता का उपकरण (कमण्डलु) को बनाने हेतु, जंगल में सहज उपलब्ध मोर पंख तथा सूखी तुंबी फलादि ले सकते हैं। शुद्धि के लिए, सहज उपलब्ध राख का प्रयोग भी योग्य है। झरने के बहते पानी को, मजबूरी में, केवल शुद्धि के लिए ले सकते हैं।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत – मुनिराज, शील के समस्त अठारह हजार भेदों का पालन करते हैं। स्त्री तो दूर रहो, स्त्री के चित्राम, मूर्ति आदि से भी दूर रहते हैं। हजारों देवांगनाओं की ललित क्रियाएँ भी, महामुनीश्वरों को विकार कराने में समर्थ नहीं हैं।

5. अपरिग्रह महाव्रत – मुनिगण, तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं रखते हैं; चश्मा आदि वस्तुओं का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। वे संयम, शौच तथा ज्ञान का उपकरण रखते हैं; परन्तु मुनि, पिच्छी का प्रयोग, बुहारी देने के लिए; कमण्डलु का पानी, पीने के लिए तथा शास्त्र का प्रयोग, पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं करते हैं।

6. ईर्यासमिति – मुनिगण, दिन में सूर्य के प्रकाश में, प्रासुक जमीन को अच्छे से देखकर चलते हैं। वे चलते हुए बातें नहीं करते।

7. भाषासमिति – मुनिगण, साधारणत: मौन रहकर अध्ययन में लीन रहते हैं। यदि मजबूरी में बोलना पड़े तो आत्महित की बात अत्यन्त सीमित शब्दों में करते हैं। वे कटुवचन के सर्वथा त्यागी हैं। मृदु तथा कोमल सम्बोधन के द्वारा ही मोक्षमार्ग का निरूपण करते हैं।

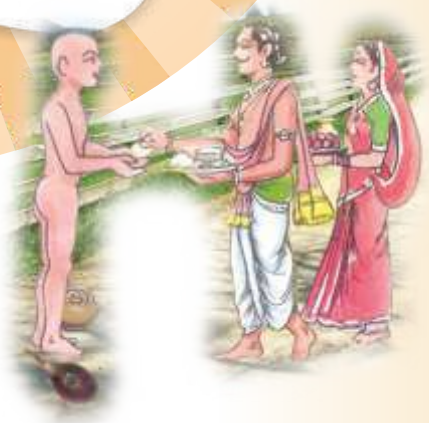

8. एषणासमिति – दिन में एक बार, श्रावक के घर जाकर, यदि वह श्रद्धा और भक्ति के साथ भोजन के लिए निवेदन करे, तो आहार के छियालीस दोषों को टालकर, बत्तीस अन्तराय को त्यागकर, भोजन करते हैं।

9. आदान-निक्षेपणसमिति – मुनिराज, कमण्डलु, शास्त्र, पिच्छी वगैरह को देखभाल कर हाथ में लेते हैं और

* आगमानुसार कथन करना।

देखभाल कर रखते हैं। यत्नाचारप्रवृत्ति, मुनि जीवन का एक अभिन्न अंग है।

10. व्युत्सर्ग (प्रतिष्ठापन) समिति – जैन साधु, प्रासुक जमीन देखकर, परिमार्जन करके, मल, मूत्र, श्लेष्म का ऐसी जगह विसर्जन करते हैं, जिससे सामाजिक व्यवस्था भंग नहीं हो, किसी को कष्ट नहीं हो। लोक में घृणा हो, ऐसा कोई कार्य मुनिगण नहीं करते हैं।

11-15. पंचेन्द्रिय जय – साधुगण, इन्द्रियों के अनुकूल तथा प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष नहीं करते। उनकी दृष्टि में रूखा-चिकना, सरस-नीरस, सुगन्ध-दुर्गन्ध, काला-गोरा, कोमल-कठोर वचन, सब समानरूप से परद्रव्य ही हैं।

16. सामायिक – मुनिराज, प्रतिदिन कम से कम चार बार सामायिक करते हैं। अडिग आसन में आत्मा में पूर्ण स्थिर होने का प्रयास करते हैं।

17. स्तुति – मुनिगण, वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की स्तुति करते हैं। (एक साथ अनेक का भक्ति-गान करना, स्तुति कहलाता है।)

18. वन्दना – दिगम्बर साधु, किसी विशिष्ट तीर्थंकर आदि की वन्दना करते हैं। (किसी एक का भक्ति-गान करना, वन्दना कहलाता है।)

19. प्रतिक्रमण – मुनिगण, प्रमाद से लगे हुए दोषों का शोधन करते हैं।

20. प्रत्याख्यान – मुनिराज, भविष्य में लग सकनेवाले दोषों से बचने के लिए अयोग्य वस्तुओं का मन, वचन, काय से त्याग करते हैं।

21. कायोत्सर्ग – मुनिराज, तप की वृद्धि के लिए अथवा कर्मों की निर्जरा के लिए, कायोत्सर्ग करते है। खड़े होकर, दोनों भुजाओं को नीचे की ओर लटकाकर, पैर के दोनों पंजों को एक सीध में चार अंगुल के अन्तर से रखकर साधु के निश्चल आत्मध्यान में लीन होने को / काय के प्रति ममत्व के त्याग को, कायोत्सर्ग कहते हैं।

सामायिक से लेकर कायोत्सर्ग तक छह आवश्यक हैं। इन आवश्यकों को साधु प्रतिदिन करते

हैं। उदाहरण के रूप में स्थूलरूप से भले ही मुनि ने कोई दोष नहीं लगाया हो, फिर भी दैनिक परम्परा अनुसार प्रतिक्रमण आवश्यक है; क्योंकि इस कलिकाल के जीवों का परिणाम शिथिल होता है; अत: बुद्धि-अबुद्धिपूर्वक, कहीं न कहीं, दोष लगना सम्भव है।

अब, शेष सात गुणों को समझते हैं।

22. अस्नान – मुनिगण, जीवन में कभी भी नहीं नहाते। ब्रह्मचारी सदा शुचि ही होते हैं। केवल जब लघु शंका तथा दीर्घ शंका से निवृत्त होते हैं, तब यथा-आवश्यक कमर के नीचे की शुद्धि करते हैं। मुनि के सिर पर, कोई पक्षी गन्दगी करे तो दण्ड-स्नान द्वारा शुद्धि कर लेते हैं।

23. अदन्तधोवन – कुछ लोग कहते हैं कि जैन साधुओं के दाँतों पर मैल जमा रहता है और उस पर यदि पैसा चिपक जाए तो, उसे उत्कृष्ट साधु कहा जाता है किन्तु ये सब दन्त-कथा (झूठी बात) मात्र है; दाँतों पर मैल तभी जमता है, जब आँतों में मल रहता है। जैनसाधु एक बार में परिमित और हल्का आहार लेते हैं; अत: न आँतों में मल रहता है और न दाँतों पर मैल जमता है। मुनिगण, जीवनभर दाँतों को अंगुली तक नहीं लगाते, मंजन आदि का तो सवाल ही नहीं उठता है।

24. भूमिशयन – मुनिगणों ने प्रमाद के सभी साधनों को दूर किया है। वे ऊबड़-खाबड़ जैसी भी जमीन हो, उस पर एक ही करवट में अल्प निद्रा लेते हैं। बुढापे में या बीमारी में संस्तर के रूप में सूखी घास का प्रयोग भी कर सकते हैं।

25. खड़े-खड़े भोजन – जैन साधु, खड़े-खड़े ही भोजन करते हैं; वे दीवार आदि का सहारा लेकर खड़े नहीं होते। उनका यह प्रण है कि जब तक मेरी जंघा में स्वयं खड़े रहने का बल है, तभी तक मैं आहार करूँगा। शरीर, शिथिल होता जानकर, आत्मध्यान में ही संलग्न रहकर, आहार का भी त्याग करते हैं। मुनि अपने करपात्र में ही भोजन करते हैं। बैठकर भोजन करने में आराम होता है, जिससे अधिक भोजन की संभावना रहती है।

26. दिन में एक बार भोजन – सूर्योदय के तीन घड़ी पश्चात् से लेकर सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व तक, सामायिकादि के काल को छोड़कर कभी भी एक बार भोजन के लिए निकलते हैं।

27. नग्नता – नग्नता ही निर्विकारता की परिचायक है। जो निर्विकार नहीं है, वह बुद्धिपूर्वक कभी नग्न नहीं हो सकता। विकारीजीव, विकार को छिपाने के लिए, कम से कम लंगोटी की चाह रखता है।

बचपन में वही मनुष्य नंगा घूमता है, उसे देखकर किसी को लज्जा नहीं आती, क्योंकि वह स्वयं निर्विकार है। प्रकृति तो सबको दिगम्बर ही पैदा करती है, पीछे से मनुष्य कृत्रिमता के आडम्बर में फँस जाता है। डायोजिनिस नाम के दार्शनिक, महात्मा गाँधीजी, आचार्य विनोबा भावे आदि सभी जन नग्नता को आदर्श और पूज्यदशा मानते थे।

28. केशलोंच - साधु होने की प्रक्रिया में केशलोंच, एक अनिवार्य अनुष्ठान है। यह साधु के तपस्विता तथा कष्ट-सहिष्णुता का परिचायक है। दो महीने से लेकर, चार महीने की अवधि तक मुनिगण, स्वयं अपने हाथ से ही अपने सिर आदि के बाल उखाड़ देते हैं। यह साधुत्व की उत्तम परीक्षा है।

साधुपद, यह गम्भीर तथा जैनशासन का गुरुतर पद है। सिद्धों की श्रेणी में आनेवाले ऐसे महात्माओं का वर्णन विस्तार से जानने के लिए मूलाचार, मूलाराधना, संयम प्रकाश आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना आवश्यक है।

प्रश्न -

1. प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है ?
2. स्तुति तथा वन्दना में क्या अन्तर है ?
3. मुनि, खड़े-खड़े भोजन क्यों लेते हैं ?
4. कोई अज्ञानी अदन्तधोवन तथा नग्नता का अपवाद करें, तो उसका समाधान कैसे किया जा सकता है ?
5. अट्ठाईस मूलगुणों का चार्ट बनाइए।

अरे जिया! जग धोखे की टाटी..

अरे जिया! जग धोखे की टाटी ॥टेक॥
झूठा उद्यम लोग करत हैं, जिनमें निशदिन घाटी ॥1॥
जान बूझ कर अन्ध बने हैं, आखिन बाँधी पाटी ॥2॥
निकल जाएँगे प्राण छिनक में, पड़ी रहैगी माटी ॥3॥
'दौलतराम' समझ मन अपने दिल की खोल कपाटी ॥4॥

पाठ 5

जैन भूगोल

मङ्गलार्थियो! हम हर स्वाध्याय, कक्षा के उपरान्त 'जा वाणी के ज्ञान तैं सूझे लोकालोक, सो वाणी मस्तक नमों सदा देत हू ढोक' कहकर जिनवाणी का अभिवादन करते हैं। क्या आप जानते हैं, यह लोक-अलोक क्या चीज़ है ? इस विश्व में अनन्त-अनन्त प्रदेशी अलोकाकाश है। जिस प्रकार कमरे के बीचोंबीच, छत से अधररूप से टँगा हुआ कोई सींका हो; उसी प्रकार अनन्तानन्त प्रदेशी अलोक के बीचोंबीच अधररूप से यह लोकाकाश है।

जाति-अपेक्षा षड्द्रव्यात्मक तथा संख्या-अपेक्षा अनन्तानन्त द्रव्यात्मक यह सम्पूर्ण लोक, अधोलोक, मध्यलोक, और ऊर्ध्वलोक – इस प्रकार तीन भागों में विभक्त है।

अभी हम जहाँ रह रहे हैं, वह मध्यलोक है। इस मध्यलोक के नीचे अधोलोक है। जिसमें क्रमशः एक के नीचे एक सात पृथ्वियाँ है। उनके नाम इस प्रकार हैं – रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमोप्रभा, महातमोप्रभा। इनके रौढिक नाम क्रमशः इस प्रकार हैं – धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी, माघवी।

इन सात पृथ्वियों में अपने किये हुए पापों की सजा भोगने के लिए अत्यंत दुःखद बिलरूप चौरासी लाख स्थान हैं, जिन्हें नरक कहते हैं तथा उनमें रहनेवाले नारकी कहलाते हैं। वहाँ की जलवायु अत्यन्त दूषित, दुर्गन्धित है। भोजन, पानी, वस्त्रादि का वहाँ सर्वथा अभाव है।

पहली पृथ्वी से लेकर पाँचवीं पृथ्वी के तीन चौथाई भाग में स्थित ब्यासी लाख, पच्चीस हजार बिलों में अत्यधिक गर्मी है तथा पाँचवीं पृथ्वी के शेष चतुर्थ भाग और छठवीं-सातवीं पृथ्वी में स्थित एक लाख पचहत्तर हजार बिलों में अत्यधिक ठण्ड है। यह गर्मी और ठण्ड मेरुपर्वत जैसे लोह-पिण्ड को भी पिघला देने और छार-छार कर देने में समर्थ है।

वहाँ की भूमि भी अत्यन्त कष्टदायी है। बाह्य वातावरण तो वहाँ प्रतिकूल है ही, इसके साथ ही कषायों की अत्यधिक तीव्रता के कारण, वे जीव परस्पर में भी सदैव लड़ते-झगड़ते रहते हैं। अनन्त दुःख भोगते हुए इन जीवों को एक क्षण भी शान्ति से बैठने या नींद लेने का अवसर नहीं मिल पाता है। एक-दूसरे के साथ परस्पर में प्रेमभाव रखना तो यहाँ असम्भव ही है। अभावग्रस्त ये सभी, सदा कलह, मारपीट, बैरभाव में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

तीन लोक

रूप रेखा चित्र रचना

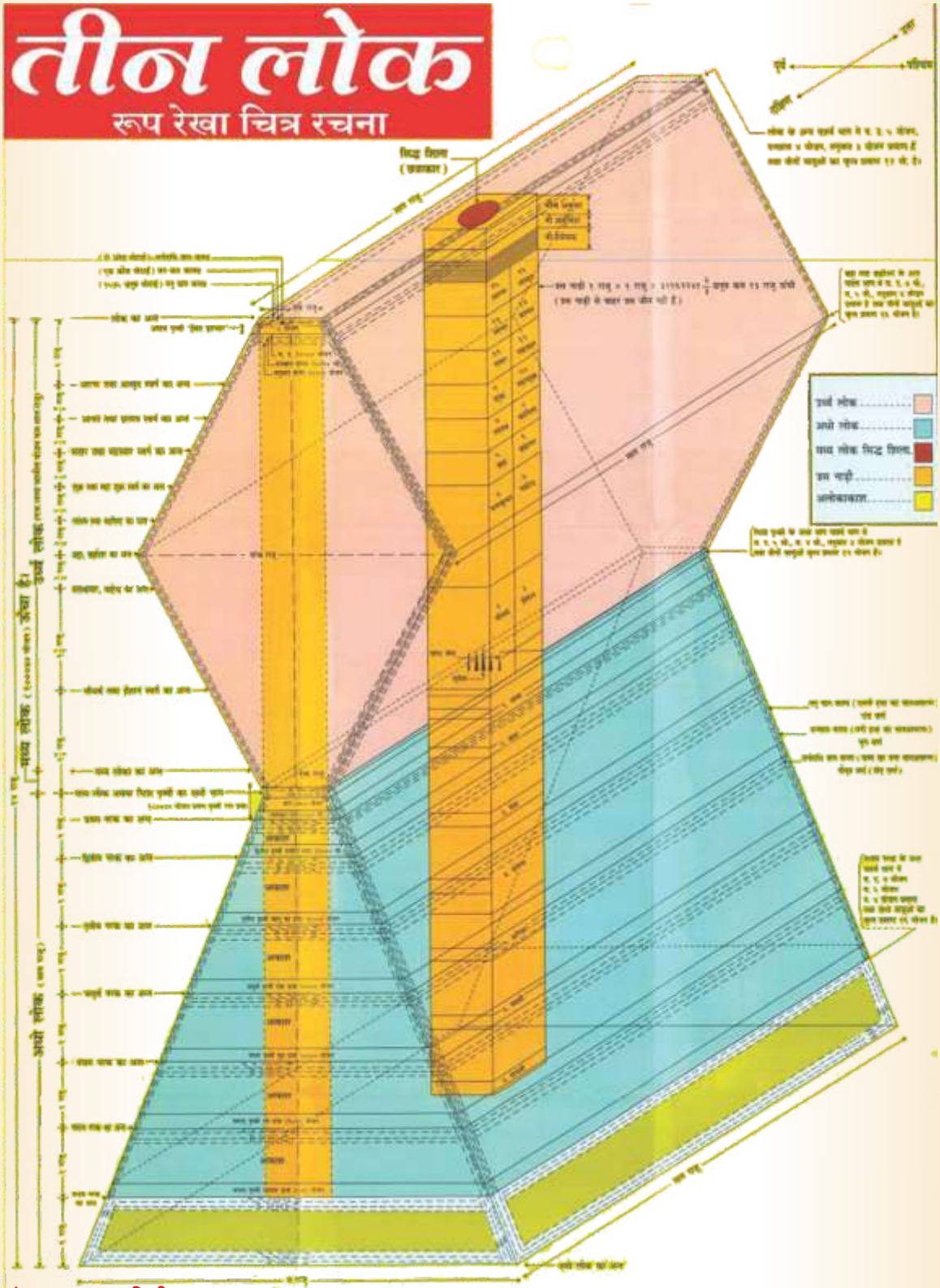

तीन लोक सम्बन्धी त्रसनाड़ी रेखाचित्र

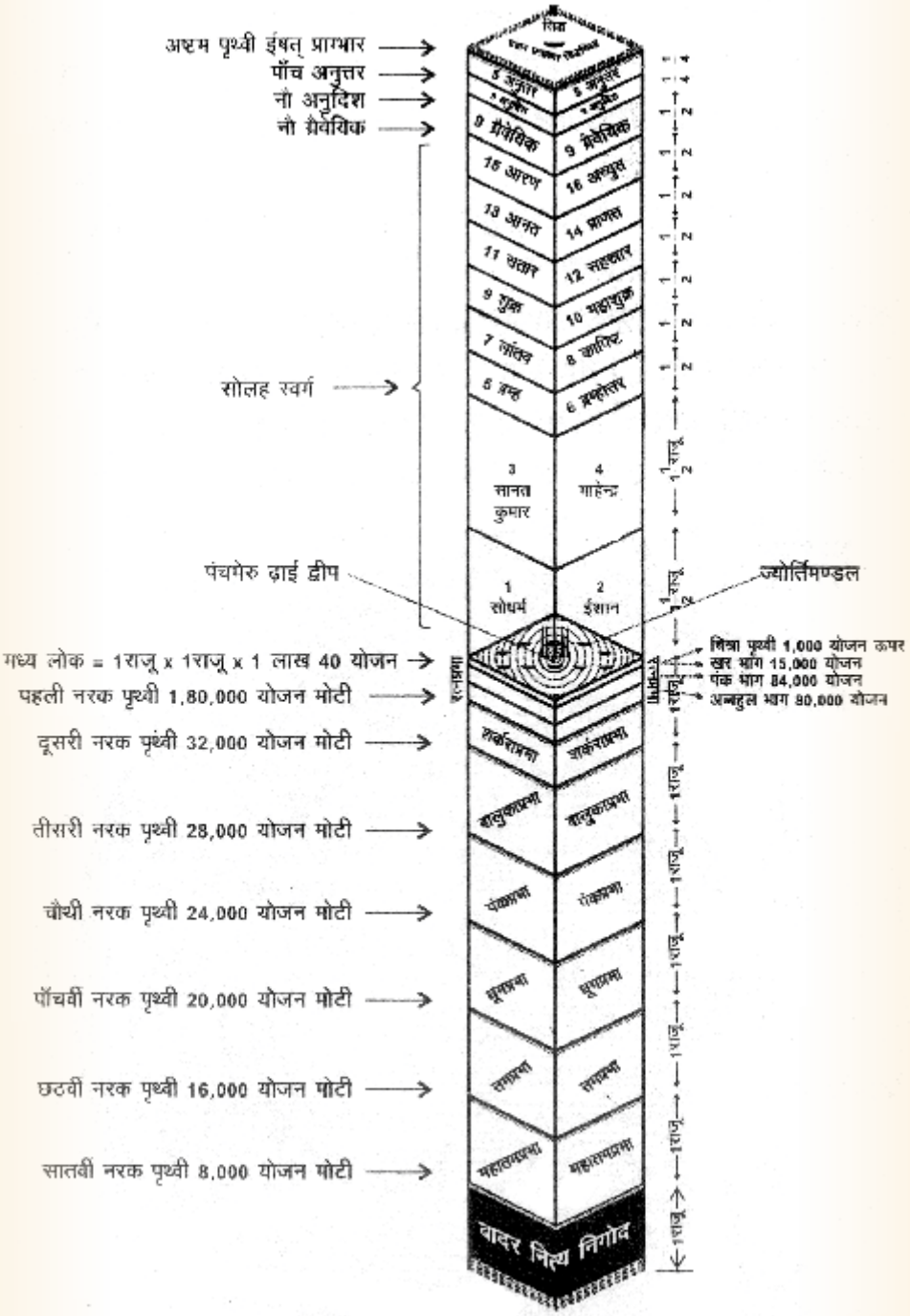

1 राजू X 1 राजू X कुछ कम*13 राजू = त्रसनाड़ी

*$(3,21,62,241\frac{2}{3}$ धनुष कम)

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहरूप तीव्रकषायभाव के कारण जीव को वहाँ जाकर ये दु:ख भोगने पड़ते हैं। वहाँ से निकलकर जीव, मनुष्य या पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होते हैं। इस प्रकार पापों के फल भोगने की स्थान ये पृथ्वियाँ हैं।

इतने प्रतिकूल वातावरण में भी यदि यह जीव, अपने ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को समझने का पुरुषार्थ करे, तो अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ द्वारा सभी से भेदविज्ञान कर, स्वरूप की प्रतीतिपूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द का पान कर लेता है। सम्यग्दर्शन प्रगट कर मोक्षमार्गी हो जाता है; दृष्टिमुक्त अन्तरात्मा हो जाता है।

मध्यलोक

अधोलोक के ऊपर अर्थात् पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी पृष्ठभाग पर मध्यलोक स्थित है। यह समान धरातल पर फैला हुआ होने से इसे तिर्यक्लोक भी कहते हैं। इसमें एक दूसरे को घेरे हुए असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। जैसे - मध्य-लोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुना अर्थात् सभी ओर दो-दो लाख योजन विस्तारवाला लवणसमुद्र है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुने विस्तारवाला धातकी खण्ड है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुने विस्तारवाला कालोदधि समुद्र है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुने विस्तारवाला पुष्करवर द्वीप है। उसे घेरे हुए उससे भी दुगुने विस्तारवाला पुष्करवर समुद्र है। इस प्रकार एक -दूसरे को घेरे हुए एक द्वीप, एक समुद्र के क्रम में, ऐसे असंख्यात द्वीप -समुद्र हैं। अन्तिम द्वीप, स्वयंभूरमण द्वीप तथा अन्तिम समुद्र, स्वयंभूरमण समुद्र है।

इनमें से जम्बूद्वीप इस मध्यलोक का प्रथम द्वीप है। थाली के आकार में एक लाख योजन विस्तृत इसके ठीक मध्य में नाभि के समान सुदर्शनमेरु नामक विशाल पर्वत है। इस पर्वत का संक्षिप्त नाम सुमेरु है।

इस द्वीप को विभक्त करनेवाले, पूर्व-पश्चिम विस्तृत हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन नामक छह पर्वत हैं। क्षेत्रों को विभक्त करने के कारण इन्हें वर्षधर या कुलाचल भी कहते हैं।

इन छह पर्वतों के कारण यह द्वीप, भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत—इन सात क्षेत्रों में विभक्त हो गया है। पूर्वोक्त छह पर्वतों पर क्रमश: पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामक विशाल ह्रद (तालाब) हैं। इनसे गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा - ये चौदह नदियाँ निकलकर पूर्वोक्त सात क्षेत्रों में बहती हैं। पहले पद्म नामक तालाब से तथा अन्तिम पुण्डरीक नामक तालाब से तीन तीन तथा शेष चार तालाबों से दो-दो नदियाँ निकलती हैं। इन नदियों में से पहली पूर्व समुद्र में तथा दूसरी पश्चिम समुद्र में मिलती है अर्थात् गंगा, रोहित आदि सात नदियाँ, पूर्व समुद्र में तथा सिन्धु, रोहितास्या आदि सात नदियाँ, पश्चिम समुद्र में मिलती हैं।

इन सात क्षेत्रों में से हम अभी दक्षिण में स्थित भरतक्षेत्र में रह रहे हैं। यही क्षेत्र आचार्य कुन्दकुन्ददेव के जन्म और विहार से भी पावन हुआ है। इन्हीं में से चतुर्थ क्षेत्र विदेह की पूर्व दिशावर्ती नगरी में जीवन्त तीर्थनाथ सीमन्धर भगवान विराजमान हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव अपने प्रबल पुण्य-प्रताप से इस शरीरसहित ही सीमन्धर भगवान के दर्शन-वन्दन आदि के लिए विदेहक्षेत्र में गए थे। सशरीर वहाँ जा पाना प्रत्येक की सामर्थ्य के बाहर है; अतः इस घटना के कारण आचार्य कुन्दकुन्ददेव इस युग में विख्यात हो गए। वास्तव में यह अद्वितीय पुण्य और पवित्रता की सूचक एक घटना है।

दूसरे धातकी खण्ड तथा मध्य में स्थित सर्वत्र गोलाकारमय मानुषोत्तर-पर्वत के कारण दो भागों

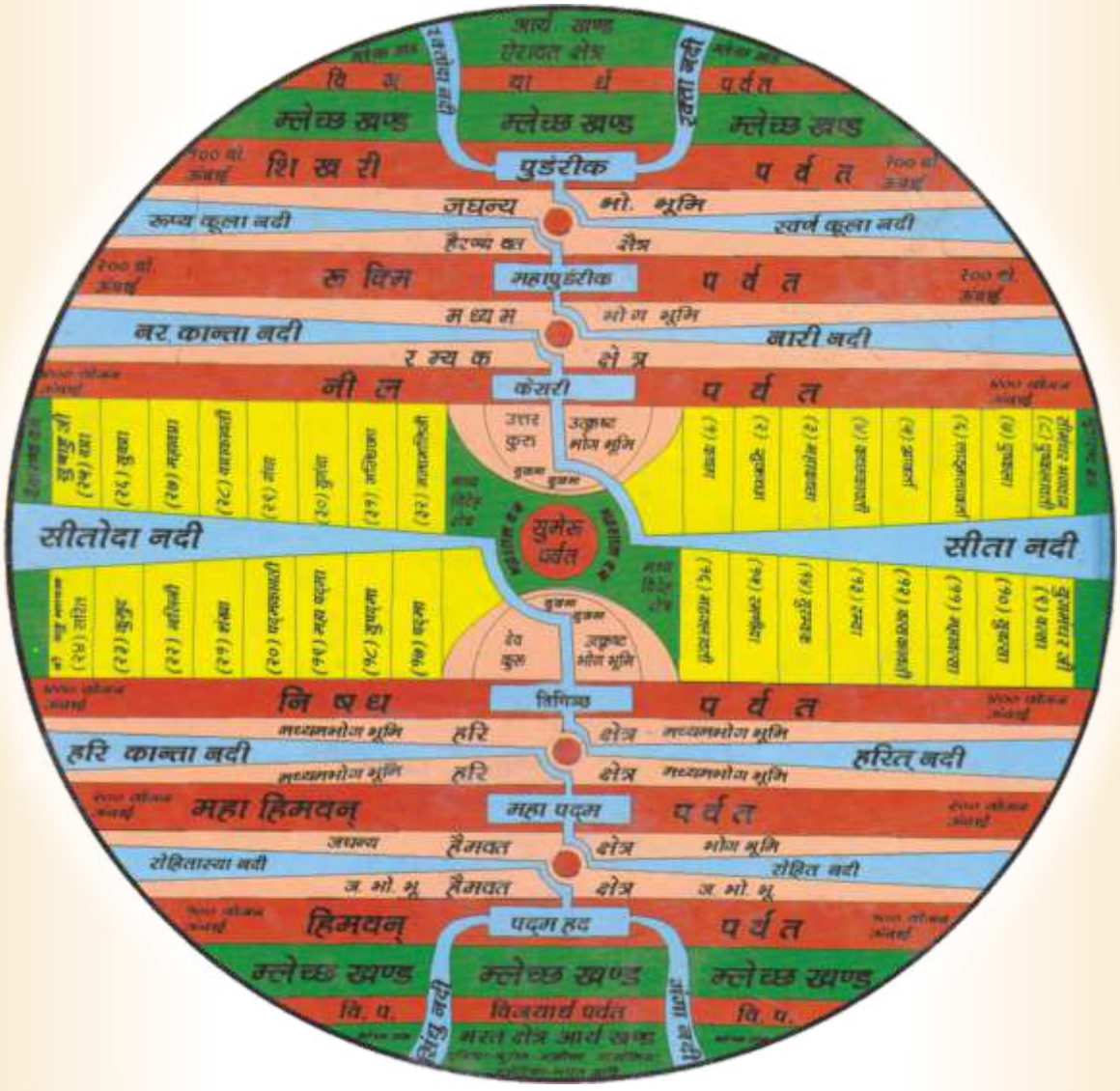

में विभक्त इस ओरवर्ती तीसरे पुष्करार्ध द्वीप में पर्वत-क्षेत्रादि की सम्पूर्ण रचना, जम्बूद्वीप की पर्वत-क्षेत्रादि रचना से दुगुनी-दुगुनी है। मानुषोत्तरपर्वत के उस ओर मनुष्यों का निवास नहीं होने के कारण इन ढाई द्वीपों को मनुष्यलोक भी कहते हैं। यहाँ वर्तमान में पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह क्षेत्र सम्बन्धी 15 कर्मभूमियाँ तथा हैमवत आदि शेष क्षेत्रों सम्बन्धी 30 भोगभूमियाँ हैं। जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि समुद्र और पुष्करार्धरूप इस मनुष्यलोक का विस्तार, सिद्धलोक के समान 45 लाख योजन है।

मध्य में स्थित सर्वत्र गोलाकारमय नागेन्द्रपर्वत के कारण दो भागों में विभक्त अन्तिम

स्वयंभूरमण द्वीप के उस ओर तथा स्वयंभूरमण समुद्र में भी कर्मभूमि है। वहाँ पंचम गुणस्थानवर्ती तिर्यंच भी होते हैं। मानुषोत्तर- पर्वत से लेकर नागेन्द्रपर्वत पर्यन्त के मध्यवर्ती असंख्य द्वीप-समुद्रों में जघन्य भोगभूमि है। यहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंच रहते हैं। इस एक राजू विस्तृत तिर्यग्लोकरूप मध्यलोक में सर्वत्र व्यन्तरदेवों का भी निवास है। इस धरातल से 790 योजन ऊँचाई से 900 योजन पर्यन्त के मध्यवर्ती 110 योजन क्षेत्र में सूर्यादि ज्योतिष्क देवों का निवास है।

इस प्रकार इस मध्यलोक में अपने-अपने परिणामों का फल भोगते हुए मनुष्य, तिर्यंच तथा व्यन्तर और ज्योतिष्कदेव रहते हैं।

ऊर्ध्वलोक

तीन लोक में से एक लाख योजन ऊँचे मध्यलोक के सुमेरुपर्वत से ठीक ऊपर ऊर्ध्वलोक है। जिसमें एक-एक युगलसहित एक के ऊपर एक स्थित क्रम से सोलह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर क्रमशः नौ ग्रैवेयिक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं। पाँच अनुत्तर विमानों में से पाँचवें सर्वार्थसिद्धि विमान के ठीक ऊपर सिद्धशिला है; जिसके ऊपर अनन्तानन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

सोलह स्वर्गों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

मनुष्य अथवा तिर्यंचगति में स्थित जो जीव व्रत, शील, संयमादिसहित मन्द-कषायमय शुभभाव करते हैं अथवा सम्यक् रत्नत्रयसम्पन्न होने पर भी पूर्ण स्वरूप-स्थिर नहीं रह पाते हैं अथवा बाल तप आदि रूप प्रवर्तन करते हैं, वे कषाय की मन्दता के कारण, मरणकर इन स्वर्गों में जन्म लेते हैं। यहाँ पुण्योदय की, लौकिक, शारीरिक विषयभोगों की मुख्यता होती है। ये भी मरकर, मात्र मनुष्य या तिर्यंच ही होते हैं।

ऊर्ध्वलोक उत्तर-दक्षिण सात राजू लम्बा और सात राजू ऊँचा, पूर्व -पश्चिम नीचे एक राजू चौड़ा, क्रमशः बढते-बढते साढे तीन राजू ऊँचाई पर पाँच राजू चौड़ा तथा बाद में क्रमशः कम होते-होते, अन्त में एक राजू चौड़ा है।

प्रश्न -

1. जम्बूद्वीप का नक्शा बनाइए तथा उसमें प्रमुख स्थान दर्शाइए।
2. नरक कितने हैं ? उनके नाम लिखकर, वहाँ की स्थिति का चित्रण अपने शब्दों में कीजिए।
3. क्षेत्रों का विभाजन करनेवाले पर्वतों और क्षेत्रों के नाम लिखकर, कुन्दकुन्द और सीमन्धरस्वामी का निवास बताइए।

पाठ 6

चार अनुयोग

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के पिता श्री जोगीदासजी खण्डेलवाल, दिगम्बर जैन गोदिका गोत्रज थे और माँ का नाम रंभाबाई था। वे विवाहित थे। उनके दो पुत्र थे – हरिश्चन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम महान प्रतिभाशाली और उनके समान ही क्रान्तिकारी थे। यद्यपि पण्डितजी का अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, किन्तु उन्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ समय सिंघाणा रहना पड़ा था। वे वहाँ दिल्ली के एक साहूकार के यहाँ कार्य करते थे।

'परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु 27 वर्ष की मानी जाती है, किन्तु उनकी साहित्य-साधना, ज्ञान व नवीनतम प्राप्त उल्लेखों और प्रमाणों के आधार पर, यह निश्चित हो चुका है कि वे 47 वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। उनकी मृत्यु-तिथि वि. सं. 1823-24 के लगभग निश्चित है; अत: उनका जन्म वि.सं. 1776-77 में होना चाहिए।'

उन्होंने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएँ लिखीं, जिनका परिमाण करीब एक लाख श्लोक है अर्थात् लगभग पाँच हजार पृष्ठ। इनमें कुछ तो लोकप्रिय ग्रंथों की विशाल प्रामाणिक टीकाएँ हैं और कुछ हैं स्वतन्त्र रचनाएँ। वे गद्य और पद्य दोनों रूपों में पायी जाती हैं –

1. मोक्षमार्गप्रकाशक (मौलिक)
2. रहस्यपूर्ण चिट्ठी (मौलिक)
3. गोम्मटसार पूजा (मौलिक)
4. समोशरण रचना वर्णन (मौलिक)
5. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका
6. आत्मानुशासन भाषा टीका
7. गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषा टीका
8. गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषा टीका
9. अर्थसंदृष्टि अधिकार
10. लब्धिसार भाषा टीका
11. क्षपणासार भाषा टीका
12 त्रिलोकसार भाषा टीका

आपके सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल की कृति 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' नामक ग्रन्थ देखना चाहिए। प्रस्तुत पाठ मोक्षमार्ग-प्रकाशक के अष्टम अधिकार के आधार पर लिखा गया है।

छात्र – मोक्षमार्गप्रकाशक में किसकी कहानी है ?

अध्यापक – मोक्षमार्गप्रकाशक में कहानी थोड़े ही है, उसमें तो मुक्ति का मार्ग बताया गया है।

छात्र – अच्छा तो मोक्षमार्गप्रकाशक क्या शास्त्र नहीं है ?

अध्यापक – क्यों ?

छात्र – शास्त्र में तो कथाएँ होती हैं। हमारे पिताजी तो कहते थे कि मन्दिर चला करो, शाम को वहाँ शास्त्र बँचता है, उसमें अच्छी-अच्छी कहानियाँ निकलती हैं।

अध्यापक – हाँ! हाँ! शास्त्रों में महापुरुषों की कथाएँ भी होती हैं। जिन शास्त्रों में महापुरुषों के चरित्रों द्वारा पुण्य-पाप के फल का वर्णन होता है और अन्त में वीतरागता को हितकर बताया जाता है, उन्हें प्रथमानुयोग के शास्त्र कहते हैं।

छात्र – तो क्या शास्त्र कई प्रकार के होते हैं ?

अध्यापक – शास्त्र तो जिनवाणी को कहते हैं, उसमें तो वीतरागता का पोषण होता है। उसके कथन करने की विधियाँ चार हैं; जिन्हें अनुयोग कहते हैं – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

छात्र – हमें तो कहानीवाला शास्त्र ही अच्छा लगता है, उसमें खूब आनन्द आता है।

अध्यापक – भाई! शास्त्र की अच्छाई तो वीतरागतारूप धर्म के वर्णन में है; कोरी कहानियों में नहीं।

छात्र – तो फिर ये कथाएँ, शास्त्रों में लिखी ही क्यों हैं ?

अध्यापक – तुम ही कह रहे थे कि हमारा मन कथाओं में खूब लगता है। बात यही है कि रागी जीवों का मन, केवल वैराग्य-कथन में लगता नहीं; अत: जिस प्रकार बालक को मीठे बतासे के साथ कड़वी दवा देते हैं; उसी प्रकार तुच्छ बुद्धि जीवों को कथाओं के माध्यम से धर्म (वीतरागता) में रुचि कराते हैं और अन्त में वैराग्य का ही पोषण करते हैं।

छात्र – अच्छा! यह बात है। ये पुराण और चरित्र-ग्रन्थ प्रथमानुयोग में आते होंगे। करणानुयोग में किस बात का वर्णन होता है ?

अध्यापक – करणानुयोग में गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप तो जीव का वर्णन होता है और कर्मों तथा तीनों लोकों का भूगोल सम्बन्धी वर्णन होता है। इसमें गणित की मुख्यता रहती है क्योंकि गणना और माप का वर्णन होता है न!

छात्र – यह तो कठिन पड़ता होगा ?

अध्यापक – पड़ेगा ही; क्योंकि इसमें अति सूक्ष्म केवलज्ञानगम्य बातों का वर्णन होता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार और त्रिलोकसार ऐसे ही ग्रन्थ हैं।

छात्र – चरणानुयोग सरल पड़ता होगा ?

अध्यापक – हाँ! क्योंकि इसमें स्थूल बुद्धिगोचर कथन होता है। इसमें सुभाषित, नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि इसमें गृहस्थ और मुनियों के आचरण नियमों का वर्णन होता है। इस अनुयोग में जैसे भी यह जीव, पाप छोड़कर, धर्म में लगे अर्थात् वीतरागता में वृद्धि करे, वैसे ही अनेक युक्तियों से कथन किया जाता है।

छात्र – तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार इसी अनुयोग का शास्त्र होगा ?

अध्यापक – हाँ! हाँ!! वह तो है ही। साथ ही मुख्यतया पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय आदि और भी अनेक शास्त्र हैं।

छात्र – तो क्या समयसार और द्रव्यसंग्रह भी इसी अनुयोग के शास्त्र हैं ?

अध्यापक – नहीं! वे तो द्रव्यानुयोग के शास्त्र हैं; क्योंकि षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व आदि का तथा स्व-पर भेदविज्ञान आदि का वर्णन तो द्रव्यानुयोग में ही होता है।

छात्र – इसमें भी करणानुयोग के समान, केवलज्ञानगम्य कथन होता होगा ?

अध्यापक – नहीं! इसमें तो चरणानुयोग के समान, बुद्धिगोचर कथन होता है, पर चरणानुयोग में बाह्यक्रिया की मुख्यता रहती है और द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से कथन होता है। द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्र की पद्धति मुख्य है।

छात्र – इसमें न्यायशास्त्र की पद्धति मुख्य क्यों है ?

अध्यापक – क्योंकि इसमें तत्त्व-निर्णय करने की मुख्यता है। निर्णय, युक्ति और न्याय के बिना कैसे होगा ?

छात्र – कुछ लोग कहते हैं कि अध्यात्म-शास्त्र में बाह्याचार को हीन बताया है, उसको पढ़कर लोग आचारभ्रष्ट हो जाऐंगे। क्या यह बात सच है ?

अध्यापक – द्रव्यानुयोग में आत्मज्ञानशून्य कोरे बाह्याचार का निषेध किया है, पर स्थान-स्थान पर स्वच्छन्द होने का भी तो निषेध किया है। इससे तो लोग आत्मज्ञानी बनकर सच्चे व्रती बनेंगे।

छात्र – यदि कोई अज्ञानी भ्रष्ट हो जाए तो ?

अध्यापक – यदि गधा मिश्री खाने से मर जाए, तो सज्जन तो मिश्री खाना छोड़ेंगे नहीं; उसी प्रकार यदि अज्ञानी तत्त्व की बात सुनकर भ्रष्ट हो जाए, तो ज्ञानी तो तत्त्वाभ्यास छोड़ेंगे नहीं तथा वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर, कुगति होगी; पर रहेगा तो संसार में ही; परन्तु अध्यात्म-उपदेश न होने पर, बहुत जीवों के मोक्षमार्ग का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है; अत: अध्यात्म-उपदेश का निषेध नहीं करना।

छात्र – जिनसे खतरे की आशंका हो, वे शास्त्र पढ़ना ही क्यों ? उन्हें न पढ़ें तो क्या हानि है ?

अध्यापक – मोक्षमार्ग का मूल-उपदेश तो अध्यात्म-शास्त्रों में ही है, उनके निषेध से मोक्षमार्ग का निषेध हो जाएगा।

छात्र – पर पहले तो उन्हें न पढ़ें ?

अध्यापक – जैनधर्म की तो यह परिपाटी है कि पहले द्रव्यानुयोगानुसार सम्यग्दृष्टि हो, फिर चरणानुयोगानुसार व्रतादि धारण कर व्रती हो; अत: मुख्यरूप से तो निचलीदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है।

छात्र – पहले तो प्रथमानुयोग का अभ्यास करना चाहिए ?

अध्यापक – पहले इसका अभ्यास करना चाहिए, फिर उसका, ऐसा कोई नियम नहीं है। अपने परिणामों की अवस्था देखकर, जिसके अभ्यास से धर्म में अपनी रुचि और प्रवृत्ति बढे, उसी का अभ्यास करना अथवा कभी इसका, कभी उसका, इस प्रकार बदल-बदल कर अभ्यास करना चाहिए। कई शास्त्रों में तो दो-तीन अनुयोगों की मिली पद्धति से भी कथन होता है।

प्रश्न –

1. अनुयोग किसे कहते हैं ? वे कितने प्रकार के हैं ?
2. पण्डित टोडरमलजी के अनुसार अनुयोगों का अभ्यासक्रम क्या है ?
3. द्रव्यानुयोग का अभ्यास क्यों आवश्यक है ? उसमें किस पद्धति से किस बात का वर्णन होता है ?
4. चरणानुयोग और करणानुयोग में क्या अन्तर है ?
5. प्रत्येक अनुयोग के कम से कम दो-दो ग्रन्थों के नाम लिखिए ?
6. पण्डित टोडरमलजी के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कीजिए ?

पाठ 7

जैन रामायण

अन्य धर्मों के साहित्य में, भगवान राम को 'कर्मयोगी' माना गया है; अर्थात् राज-पाट करते हुए भी, श्रीराम को सर्वोत्कृष्ट पद पर आसीन अर्थात् भगवान माना गया है। जैन साहित्य में, भगवान राम को 'धर्मयोगी' माना गया है क्योंकि श्रमणपरम्परा अर्थात् जैन परम्परा में राज-पाट, स्त्री-पुत्र, वस्त्र-पात्र आदि सम्बन्धी समस्त राग का त्याग करके, दिगम्बरी दीक्षा लेकर, अरहन्त-सिद्धावस्था में स्थित महान पद के धारक जीवों को ही भगवान माना गया है। आइये, जन-जन के हृदय के हार बने, पुरुषोत्तम राम के जीवन का हम अवलोकन करते हैं -

मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के काल में उत्पन्न नवमें बलभद्र श्री राम अत्यन्त लोकप्रिय महापुरुष हुए। अयोध्या के राजा दशरथ की चार रानियाँ थीं; जिनके नाम कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा थे। बड़ी रानी कौशल्या के राम (पद्म) नाम का पुत्र हुआ और शेष रानियों के क्रमशः लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न नाम के पुत्र हुए।

यौवनावस्था प्राप्त होने पर राम का विवाह, राजा जनक की पुत्री सीता के साथ कर दिया गया। दिगम्बरी दीक्षा धारण करने की भावना होने पर, संसार-शरीर और भोगों से उदास हो, दीक्षा धारण करने के लिए उद्यत, राजा दशरथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार राम को राजगद्दी देनी चाही, पर कैकेयी को दिए हुए वचन के कारण, भरत को राजा बनाकर स्वयं ने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा धारण की। उधर राम, लक्ष्मण और सीता, राजा भरत के राज्य की सीमा से बहुत दूर जा दण्डक वन में रहने लगे।

बहुत काल व्यतीत होने पर, एक दिन रावण नामक विद्याधर, सीता का रूप-लावण्य देखकर, मोहित हो गया एवं छल से उसने सीता का हरण कर लिया।

सीता की खोज के लिए निकले, राम की महिमा सुनकर, हनुमान -विद्याधर, राम के पास पहुँचा। पश्चात् सुग्रीव, भामण्डल आदि अनेक विद्याधर राजाओं के साथ, राम-लक्ष्मण सेनासहित आकाशमार्ग से लंका पहुँचे। वहाँ रावण का छोटा भाई विभीषण भी अधर्म का साथ छोड़कर, राम के साथ आ मिला। राम और रावण

की सेना के बीच कई दिनों तक भयंकर युद्ध चला। अन्त में रावण ने चक्ररत्न चला दिया। तीन प्रदक्षिणा देकर वह चक्ररत्न लक्ष्मण के हाथ में आ गया। इस घटना के कारण लक्ष्मण, नारायण घोषित हो गए और उन्होंने उसी चक्ररत्न से रावण (प्रतिनारायण) का वध कर दिया।

तदनन्तर विभीषण को लंका का राज्य सौंपकर, कुछ दिन विभीषण के आतिथ्य में रहकर, राम और लक्ष्मण, सीता के साथ वापस अयोध्यानगर में आ गए।

राजा भरत, पूर्व से वैराग्यभाव को धारण किए हुए उदासीन भाव से राज-पाट सम्हाल रहे थे। रामचन्द्रजी के वापस आते ही, उन्होंने राम को राजा बनाकर दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली। कालान्तर में सीता के विषय में लोकापवाद होने पर, कुलमर्यादा की रक्षा हेतु राम ने, गर्भवती सीता का परित्याग कर दिया तथा तीर्थयात्रा के दोहले (इच्छा अथवा भाव) को पूर्ण करने के बहाने सीता को कृतान्तवक्र सेनापति के द्वारा जंगल में छुड़वा दिया।

कृतान्तवक्र ने सीताजी से कहा - माँ, रामचन्द्रजी से कोई सन्देश कहना है क्या? तब सीता ने कहा - **'जिस प्रकार प्रजा के असत्य कहने पर मुझे छोड़ दिया; उसी प्रकार किसी के कहने पर जिनधर्म को नहीं छोड़ देना।'**

अथानन्तर, पुण्ययोग से एक दिन बज्रजंघ नामक राजा जंगल में सीता के निकट पहुँचा और सीता को बहिन बनाकर अपने महल में ले गया। सीता ने राजा बज्रजंघ के महल में अनंग लवण और

मदनांकुश (लव व कुश) नामक युगल-पुत्रों को जन्म दिया।

सिद्धार्थ नामक क्षुल्लक से शिक्षा प्राप्त कर, बड़े हुए उन पुत्रों को जब अपनी माँ की पूरी कहानी पता चली, तो उन्होंने युद्ध हेतु अयोध्या नगरी को घेर लिया। घोर युद्ध में जब राम, सेना-सहित उन युवा योद्धा- युगल को न जीत सके, तब सिद्धार्थ क्षुल्लक नामक नारदजी ने राम-लक्षण से उनका रहस्य प्रकट किया; तब उन्होंने युद्ध को छोड़कर पुत्रों को पुकारा और वे पिता-पुत्र आपस में प्रीति को प्राप्त हुए।

समस्त लोगों के समक्ष, निर्दोषता सिद्ध करने की शर्त पर, राम ने सीता को बुलाया और उनकी अग्नि परीक्षा ली; तब अग्निकुण्ड, जलकुण्ड बन गया और देवताओं ने सीताजी को सिंहासन पर बैठाकर जय-जयकार किया।

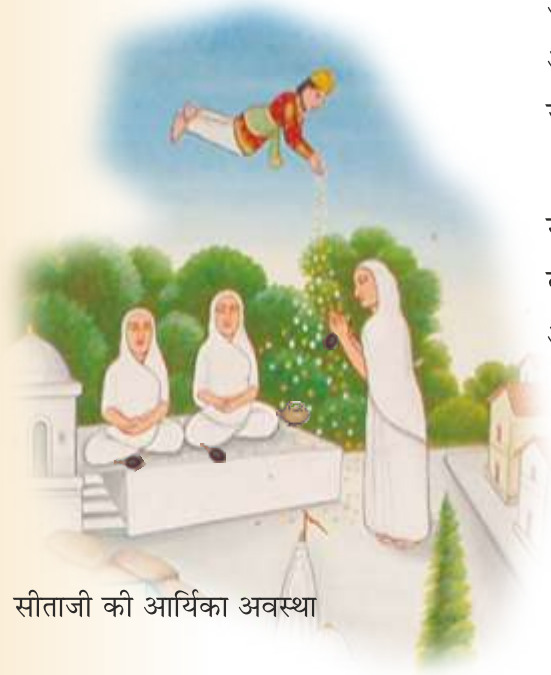

सीताजी की आर्यिका अवस्था

परीक्षा में निर्दोष सिद्ध होने पर, राम ने सीता से राजमहल में चलने का आग्रह किया; परन्तु सीता ने कहा कि 'अब मैं भवन की ओर नहीं, किन्तु वन की ओर जाऊँगी और आत्मकल्याण करूँगी'। तब राम की आज्ञा लेकर, सीता ने पृथ्वीमती आर्यिका से आर्यिका के व्रतों का अंगीकार किया एवं स्त्रीपर्याय के छेदन हेतु घोर तप करने लगीं। तपस्या करते हुए आयु को निकट जान, तैंतीस दिन की सल्लेखना धारण कर समाधिमरण को प्राप्त होकर, अच्युत स्वर्ग में स्त्रीपर्याय से छूटकर, वे पुरुषपर्याय में प्रतीन्द्र हो गईं।

एक दिन, भ्रातृ-प्रेम की परीक्षा करने आए देवों के द्वारा ऐसा कहने पर कि राम की मृत्यु हो गई, लक्ष्मण मरण को प्राप्त हो गए। राम, मोह के वशीभूत हो उनके शव को अपने कन्धे पर लटकाए, छह माह तक पागलों की भाँति भटकते रहे। तदनन्तर

राम की मुनि अवस्था

देवों के द्वारा अनेक प्रकार से सम्बोधे जाने पर प्रतिबोध को प्राप्त हो, राम ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। घोर तप करते हुए, माघ शुक्ल द्वादशी को श्रीराम मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त किया एवं आयुकर्म के पूर्ण होने पर, अष्ट कर्मों को क्षय कर माँगीतुंगी से मोक्ष को प्राप्त किया।

जैन रामायण की कुछ विशेषताएँ-

1. रावण, राक्षस नहीं था, अपितु रावण का जन्म राक्षस वंश में हुआ था। वह विद्याधर तीन खण्ड का स्वामी, अत्यन्त रूपवान, नीति का ज्ञाता विद्वान था। रावण का मूल नाम दशानन था।

2. कुम्भकर्ण की बुद्धि सदा धर्म में लीन रहती थी, वह शूरवीर था, कलाओं में निपुण, पवित्र भोजन करनेवाला तथा शयनकाल में ही निद्रा लेनेवाला था। कुम्भकर्ण ने रावण की मृत्यु के पश्चात् अनन्तवीर्य केवली के समक्ष मुनिदीक्षा अंगीकार की एवं चूलगिरि पर्वत (बावनगजा) से मोक्ष प्राप्त किया।

3. विभीषण ने राम के साथ मुनिदीक्षा धारण की। रावण की बहिन चन्द्रनखा एवं पत्नी मन्दोदरी आदि रानियों ने भी आर्यिका दीक्षा ली।

4. हनुमान, बन्दर नहीं थे; सुन्दर महापुरुष वानरवंश के शिरोमणि तद्भव मोक्षगामी थे। अंजना का मामा, प्रतिसूर्य जब बालक को अपने निवास हनुरुह द्वीप ले जा रहा था; तब बालक, विमान से उछलकर नीचे शिला पर गिर गया। जिस शिला पर बालक गिरा, वह शिला चूर-चूर हो गई, सम्भवत: इसलिए उनका एक नाम बज्रांग (बजरंग) पड़ा हो। शैल (पर्वत) की गुफा में जन्म लेने के कारण, उनका नामकरण श्रीशैल किया गया, पिता पवनंजय के कारण पवनपुत्र भी कहा जाता है। हनुरुह द्वीप में पालन-पोषण होने से लोक में हनुमान नाम प्रसिद्ध हुआ।

इनके शरीर की समस्त क्रियाएँ मनुष्यों के समान ही थीं। वे अत्यन्त सुन्दर, कान्ति के धारक, कामदेव थे। उन्होंने मुनिदीक्षा धारण की एवं माँगीतुंगी से मोक्ष प्राप्त किया।

5. राजा जनक की रानी, विदेहा के गर्भ से एक साथ पुत्र और पुत्री का जन्म हुआ। पुत्र का नाम भामण्डल एवं पुत्री का नाम सीता रखा गया।

6. राम-सीता ने, चारण-ऋद्धिधारी मुनियुगल को आहारदान दिया, तभी देवों द्वारा पंचाश्चर्य किए गए। उसी समय एक गिद्ध पक्षी आया और मुनि के चरणोदक में लोटने लगा। उस चरणोदक के प्रभाव से उसका शरीर रत्नों की कान्ति के समान, उज्ज्वल एवं पंख, सुवर्ण के समान हो गए। उस गिद्ध पक्षी ने मुनिराज के उपदेश से श्रावक के व्रतों को स्वीकार किया एवं राम-लक्ष्मण के साथ रहने लगा। चूँकि उसके शरीर पर रत्न तथा स्वर्ण निर्मित किरणरूपी जटाएँ सुशोभित होती थीं; अत: राम आदि उसे जटायु नाम से पुकारते थे।

7. जब लक्ष्मण, रावण के द्वारा अदृश्य शक्ति से मूर्छित कर दिए गए थे, तब राजकुमारी विशल्या को समीप लाने पर, लक्ष्मण स्वस्थ हो गए और वह शक्ति भाग गई। पश्चात् लक्ष्मण से, विशल्या का विवाह कर दिया गया।

8. रावण-मन्दोदरी के पुत्र इन्द्रजीत और मेघवाहन ने, रावण-वध के बाद अनन्तवीर्य महामुनि के पास दीक्षा ली और अन्त में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गए।

9. श्री रामचन्द्रजी की आयु 17,000 वर्ष तथा त्रिखण्डाधिपति लक्ष्मण की आयु 12,000 वर्ष की थी।

10. लव तथा कुश ने भी संसार से विरक्त होकर दिगंबर दीक्षा अंगीकार की थी।

11. अनेक विद्याओं को धारण करनेवाले, देवों के समान आकाश में गमन करनेवाले, अनेक रूप धारण करने में सक्षम, विद्याधर श्रेणी में रहनेवाले मनुष्य, विद्याधर कहलाते हैं; वे भी विद्याओं का त्यागकर, मुनि बन सकते हैं एवं मोक्ष भी जा सकते हैं।

श्री राम की निर्वाणभूमि मांगीतुंगी

प्रश्न -

1. सीताजी का जीवन देखकर हमें क्या प्रेरणा मिलती है ?
2. रावण के जीवन से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?
3. जैन रामायण की कुछ विशेषताएँ लिखें।
4. जैनपुराणों में राम को किस रूप में स्वीकार किया गया है ?

पाठ 8

सात तत्त्वों सम्बन्धी भूल

अध्यात्मप्रेमी पण्डित दौलतरामजी

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व; विक्रम संवत् 1855-1923)

अध्यात्मरस में निमग्न रहनेवाले, उन्नीसवीं सदी के तत्त्वदर्शी विद्वान कविवर पण्डित दौलतरामजी पल्लीवाल जाति के नररत्न थे। आपका जन्म अलीगढ़ के निकट सासनी नामक ग्राम में हुआ। बाद में आप कुछ दिन अलीगढ़ भी रहे। आपके पिता का नाम टोडरमलजी था।

आत्मश्लाघा से दूर रहनेवाले इन महान कवि का जीवन-परिचय पूर्णत: प्राप्त नहीं है। पर वे एक साधारण गृहस्थ थे एवं सरल स्वभावी, आत्मज्ञानी पुरुष थे।

आपके द्वारा रचित ग्रंथ, छहढाला जैनसमाज का बहुप्रचलित एवं समादृत ग्रन्थरत्न है। शायद ही कोई जैनबन्धु हो, जिसने छहढाला का अध्ययन न किया हो। सभी जैन परीक्षा-बोर्डों के पाठ्यक्रम में इसे स्थान प्राप्त है।

इसकी रचना आपने विक्रम संवत् 1891 में की थी। आपने इसमें गागर में सागर भरने का सफल प्रयत्न किया है। इसके अलावा आपने अनेक स्तुतियाँ एवं अध्यात्मरस से ओतप्रोत अनेक भजन लिखे हैं, जो आज भी सारे भारतवर्ष के मन्दिरों और शास्त्र-सभाओं में बोले जाते हैं। आपके भजनों में मात्र भक्ति ही नहीं, गूढतत्त्व भी भरे हुए हैं।

भक्ति और अध्यात्म के साथ ही आपके काव्य में काव्योपादान भी अपने प्रौढतमरूप में पाए जाते हैं। भाषा, सरल, सुबोध और प्रवाहमयी है, भर्ती के शब्दों का अभाव है। आपके पद, हिन्दी गीत साहित्य के किसी भी महारथी के सम्मुख बड़े ही गर्व के साथ रखे जा सकते हैं।

प्रस्तुत पाठ आपकी प्रसिद्ध रचना छहढाला की दूसरी ढाल पर आधारित है।

सात तत्त्वों सम्बन्धी भूल

जीवादि सात तत्त्वों को सही रूप में समझे बिना, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अनादि काल से जीवों को इनके सम्बन्ध में भ्रान्ति रही है। यहाँ पर संक्षेप में उन भूलों को स्पष्ट किया जा रहा है।

जीव और अजीवतत्त्व सम्बन्धी भूल— जीव का स्वभाव तो जानने-देखनेरूप ज्ञान-दर्शनमय है और पुद्गल से बने हुए शरीरादि - वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले होने से, मूर्तिक हैं। धर्मद्रव्य,

अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और आकाशद्रव्य के अमूर्तिक होने पर भी जीव की परिणति इन सबसे जुदी है; किन्तु फिर भी यह आत्मा इस भेद को न पहिचान कर, शरीरादि की परिणति को आत्मा की परिणति मान लेता है।

अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर, शरीर की सुन्दरता से अपने को सुन्दर और कुरूपता से कुरूप मान लेता है तथा उसके सम्बन्ध से होनेवाले पुत्रादि में आत्मबुद्धि करता है। शरीराश्रित उपवासादि और उपदेशादि क्रियाओं में भी अपनापन अनुभव करता है।

शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति और शरीर के बिछुड़ने पर, अपना मरण मानता है। यही जीव की, जीव और अजीवतत्त्व के सम्बन्ध में भूल है।

जीव को अजीव मानना, जीवतत्त्व सम्बन्धी भूल है और अजीव को जीव मानना, अजीवतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

आस्रवतत्त्व सम्बन्धी भूल—राग-द्वेष-मोह आदि विकारीभाव प्रकट में दु:ख को देनेवाले हैं, पर यह जीव इन्हीं का सेवन करता हुआ, अपने को सुखी मानता है। कहता है कि शुभराग तो सुखकर है, उससे तो पुण्यबन्ध होगा, स्वर्गादि का सुख मिलेगा; पर यह नहीं विचारता कि जो बन्ध का कारण है, वह सुख का कारण कैसे होगा?

पहली ढाल में तो साफ ही बताया है कि स्वर्ग में सुख है कहाँ? जब संसार में सुख है ही नहीं, तो मिलेगा कहाँ से?

जो शुभाशुभ राग प्रकट दु:ख का देनेवाला है, उसे सुखकर मानना ही आस्रवतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

बन्धतत्त्व सम्बन्धी भूल—यह जीव, शुभकर्मों के फल में राग करता है और अशुभकर्मों के फल में द्वेष करता है, जबकि शुभकर्मों का फल भोग-सामग्री की प्राप्ति है और भोग दु:खमय ही हैं; सुखमय नहीं; अत: शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म, वास्तव में संसार के कारण होने से, हानिकारक हैं और मोक्ष तो शुभ-अशुभ बन्ध के नाश से ही होता है - यह नहीं जानता है। **यही इसकी बन्धतत्त्व सम्बन्धी भूल है।**

संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल—आत्मज्ञान और आत्मज्ञानसहित वैराग्य, संवर हैं और वे ही आत्मा को सुखी करनेवाले हैं, लेकिन अज्ञानी जीव उन्हें कष्टदायी मानता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति और वैराग्य की प्राप्ति कष्टदायक है - ऐसा मानता है। यह उसे पता ही नहीं कि ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति आनन्दमय होती है; कष्टमयी नहीं।

आत्मज्ञान तथा वैराग्यमय संवर को कष्ट देनेवाला मानना ही संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल है।

निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल—आत्मज्ञानपूर्वक इच्छाओं का अभाव ही निर्जरा है और वही आनन्दमय है। उसे न जानकर एवं आत्मशक्ति को भूलकर, इच्छाओं की पूर्ति में ही सुख मानता है, लेकिन जो वास्तव में सुख का मूल कारण है, **ऐसे इच्छाओं के अभाव को अज्ञानी जीव, सुख नहीं मानता है; यही इसकी निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल है।**

मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल—मुक्ति में पूर्ण निराकुलतारूप सच्चा सुख है, उसे तो जानता नहीं और इन्द्रिय, भोग सम्बन्धी सुख को ही, सुख मानता है और **मुक्ति में भी इसी आकुलतारूप जाति के सुख की कल्पना करता है; यही इसकी मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल है।**

जब तक इन सातों तत्त्व सम्बन्धी भूलों को न निकाले, तब तक इसको सच्चा सुख प्राप्त करने का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता है।

आधार

चेतन को है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप।
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतें न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीत मान, करि करैं देह में निज पिछान।
मैं सुखी-दुखी मैं रंक-राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल-दीन बेरूप-सुभग मूरख-प्रवीन।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट जे दुःख दैन, तिनहीं को सेवत गिनत चैन।
शुभ-अशुभ बंध के फल मँझार, रति-अरति करैं निजपद विसार।
आतम-हित हेतु विराग-ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान।
रोके न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।

(छहढाला, दूसरी ढाल, पद्य 2 से 7 तक)

प्रश्न -

1. जीव और अजीव तत्त्व के सम्बन्ध में इस जीव ने किस प्रकार की भूल की है ?
2. 'हम शुभभाव करेंगे तो सुखी होंगे'—ऐसा मानने में किस तत्त्व सम्बन्धी भूल हुई ?
3. 'तत्त्वज्ञान प्राप्त करना कष्टकर है', क्या यह बात सही है ? यदि नहीं, तो क्यों ?
4. 'जैसा सुख हमें है, वैसा ही उससे कई गुणा मुक्त जीवों का है'—ऐसा मानने में क्या बाधा है ?
5. 'यदि परस्पर प्रेम (राग) करोगे तो आनन्द में रहोगे', क्या यह मान्यता ठीक है ?

पाठ 9

अहिंसा : एक विवेचन

आचार्य अमृतचन्द्र

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

आध्यात्मिक सन्तों में कुन्दकुन्दाचार्य के बाद यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे हैं, आचार्य अमृतचन्द्र। दु:ख की बात है कि दसवीं शती के लगभग होनेवाले इन महान आचार्य के बारे में उनके ग्रन्थों के अलावा, हम एक तरह से कुछ भी नहीं जानते।

आपका संस्कृत भाषा पर गहरा और अपूर्व अधिकार था। आपकी गद्य और पद्य – दोनों प्रकार की रचनाओं में आपकी भाषा, भावानुवर्तिनी एवं सहज बोधगम्य, माधुर्य गुण से युक्त है। आप आत्मरस में निमग्न रहनेवाले महात्मा थे; अत: आपकी रचनाएँ अध्यात्मरस से ओतप्रोत हैं।

आपके सभी ग्रन्थ, संस्कृत भाषा में हैं। आपकी रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों प्रकार की पाई जाती हैं। गद्य रचनाओं में आचार्य कुन्दकुन्द के महान ग्रन्थों पर लिखी हुई टीकाएँ हैं। यथा –

1. समयसार की टीका – जो कि 'आत्मख्याति' के नाम से जानी जाती है।
2. प्रवचनसार टीका – जिसे 'तत्त्वदीपिका' कहते हैं।
3. पंचास्तिकाय टीका – जिसका नाम 'समय व्याख्या' है।
4. तत्त्वार्थसार – यह ग्रन्थ गृद्धपिच्छ उमास्वामी के गद्य सूत्रों का एक तरह से पद्यानुवाद है।
5. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय – यह गृहस्थधर्म पर आपका मौलिक ग्रन्थ है। इसमें हिंसा और अहिंसा का बहुत ही तथ्यपूर्ण विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत निबन्ध आपके ग्रन्थ, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पर आधारित है।

अहिंसा : एक विवेचन

'अहिंसा परमो धर्म:' अहिंसा को परम धर्म घोषित करनेवाली यह सूक्ति आज बहुप्रचलित है। यह तो एक स्वीकृत तथ्य है कि अहिंसा ही परम धर्म है। पर प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है ?

हिंसा और अहिंसा की चर्चा जब भी चलती है, हमारा ध्यान प्राय: दूसरे जीव को मारना, सताना या रक्षा करना आदि की ओर ही जाता है। हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध प्राय: दूसरों से ही जोड़ा जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है।

अपनी भी हिंसा होती है, इस तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। जिनका जाता भी है, तो वे आत्महिंसा का अर्थ विष-भक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही स्वहिंसा के रूप में मानते हैं, पर स्वहिंसा शब्द के वास्तविक वाच्य तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। अन्तर में राग-द्वेष की उत्पत्ति भी हिंसा है, इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा और अहिंसा की परिभाषा बताते समय अन्तरंग दृष्टि को ही प्रधानता दी है। वे लिखते हैं-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥44॥

अर्थ - राग-द्वेष-मोह आदि विकारी-भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है और उन भावों का उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है।

श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य स्पष्ट घोषणा करते हैं कि राग-द्वेष-मोहरूप परिणतिमय होने से झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह भी प्रकारान्तर से हिंसा ही हैं। वे कहते हैं -

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥42॥

आत्मा के शुद्धपरिणामों के घात होने से झूठ, चोरी आदि हिंसा ही हैं; भेद करके तो मात्र शिष्यों को समझाने के लिए कहे गये हैं।

योग्य आचरण करनेवाले सत्पुरुष के रागादि भावों के नहीं होने पर, केवल परप्राण-पीड़न होने से हिंसा नहीं होती तथा अयत्नाचार (असावधानी) प्रवृत्तिवाले जीव के अन्य जीव मरें, चाहे न मरें, हिंसा अवश्य होती है; क्योंकि वह कषायभावों में प्रवृत्त रहकर, आत्मघात (स्वहिंसा) तो करता ही रहता है और 'आत्मघाती को महापापी' कहा गया है।

यहाँ कोई कह सकता है कि जब दूसरे जीव के मरने और न मरने से हिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं है, तो फिर हिंसा के कार्यों से बचने की क्या आवश्यकता है ? बस परिणाम ही शुद्ध रखे रहें। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं -

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥49॥

यद्यपि परवस्तु के कारण रंचमात्र भी हिंसा नहीं होती है; फिर भी परिणामों की शुद्धि के लिए, हिंसा के स्थान (आश्रयभूत कारण) पर-पदार्थों को छोड़ देना चाहिए।

व्यवहार में जिसे हिंसा कहते हैं - जैसे किसी को सताना, दुःख देना आदि हिंसा न हों - यह बात नहीं है। वे तो हिंसा हैं ही; क्योंकि उनमें प्रमाद का योग (अस्तित्व) नियम से रहता ही है, पर हमारा

लक्ष्य उन्हीं पर केन्द्रित हो जाता है और हम अन्तरंग में होनेवाली भावहिंसा की तरफ दृष्टि नहीं डाल पाते हैं; अत: यहाँ पर विशेषकर अन्तर में होनेवाली रागादि भावरूप भावहिंसा की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

जिस जीव के बाह्य स्थूलहिंसा का भी त्याग नहीं होगा, वह तो इस अन्तर की हिंसा को समझ ही नहीं सकता; अत: चित्त-शुद्धि के लिए अभक्ष्य-भक्षणादि एवं रात्रि-भोजनादि हिंसक कार्यों का त्याग तो अति आवश्यक है ही तथा मद्य, मांस, मधु एवं पंच उदुम्बर फलों का त्याग भी आवश्यक है क्योंकि इनके सेवन से अनन्त त्रस जीवों का घात होता है तथा परिणामों में क्रूरता आती है। अहिंसक वृत्तिवाले मन्द कषायी जीव के इस प्रकार की अनर्गल प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है।

हिंसा दो प्रकार की होती है –

(1) द्रव्यहिंसा, (2) भावहिंसा

जीवों के घात को द्रव्यहिंसा कहते हैं और घात करने के भाव को भावहिंसा, इतना तो लोग प्राय: समझ लेते हैं; पर बचाने का भाव भी वास्तव में सच्ची अहिंसा नहीं, क्योंकि वह भी रागभाव है – यह प्राय: ये नहीं समझ पाते।

रागभाव चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, उसकी उत्पत्ति निश्चय से तो हिंसा ही है क्योंकि वह बन्ध का कारण है। जब रागभाव की उत्पत्ति को हिंसा की परिभाषा में आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्मिलित किया होगा, तब उसके व्यापक अर्थ (शुभराग और अशुभराग) का ध्यान उन्हें न रहा हो – ऐसा नहीं माना जा सकता।

अहिंसा की सच्ची और सर्वोत्कृष्ट परिभाषा आचार्य अमृतचन्द्र ने दी है कि रागभाव किसी भी प्रकार का हो, हिंसा ही है। यदि उसे कहीं अहिंसा कहा हो, तो उसे व्यवहार (उपचार) का कथन जानना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अहिंसा तो साधु ही पाल सकते हैं; अत: यह तो उनकी बात हुई। सामान्यजनों (श्रावकों) को तो दयारूप (दूसरों को बचाने का भाव) अहिंसा ही सच्ची है, पर आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रावक के आचरण के प्रकरण में ही इस बात को लेकर यह सिद्ध किया है कि अहिंसा दो प्रकार की नहीं होती; अहिंसा को जीवन में उतारने के स्तर दो हो सकते हैं; हिंसा तो हिंसा ही रहेगी।

यदि श्रावक पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता, तो वह अल्प हिंसा का त्याग करे, पर जो हिंसा वह छोड़ न सके, उसे अहिंसा तो नहीं माना जा सकता है। यदि हम पूर्णत: हिंसा का त्याग नहीं कर सकते हैं, तो हमें अंशत: त्याग करना चाहिए। यदि वह भी न कर सकें, तो कम से कम हिंसा को धर्म मानने और

कहने का तो त्याग करना ही चाहिए। शुभराग, राग होने से हिंसा में आता है और हम उसे धर्म मानें, यह तो ठीक प्रतीत नहीं होता।

राग-द्वेष-मोह भावों की उत्पत्ति होना, हिंसा है और उन्हें धर्म मानना, महा-हिंसा है तथा रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होना ही परम अहिंसा है और रागादिभावों को धर्म नहीं मानना ही अहिंसा के सम्बन्ध में सच्ची समझ है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि तीव्र राग तो हिंसा है, पर मन्द राग को हिंसा क्यों कहते हो ? पर बात यह है कि जब राग, हिंसा है तो मन्द राग, अहिंसा कैसे हो जाएगा ? वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मन्द राग, मन्द हिंसा है और तीव्र राग, तीव्र हिंसा है।

निष्कर्ष यह है कि यदि हम हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं, तो उसे मन्द तो करना ही चाहिए। राग जितना घटे, उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेष-मोह का अभाव ही है और वही अहिंसा है, जिसे परम धर्म कहा जाता है।

प्रश्न -

1. आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।
2. 'अहिंसा' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए, जिसमें अहिंसा के सम्बन्ध में प्रचलित गलत धारणाओं का निराकरण करते हुए, सम्यक् विवेचन कीजिए।
3. 'रागादिभावों की उत्पत्ति ही हिंसा है और रागादिभावों की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है।' उक्त विचार का तर्कसंगत विवेचन कीजिए।
4. मन्द राग को अहिंसा कहने में क्या आपत्ति है ? स्पष्ट कीजिए ?

अब हम आतम को...

अब हम आतम को पहचाना जी ॥टेक॥
जैसा सिद्ध क्षेत्र में राजत, तैसा घट में जाना जी ॥1॥
देहादिक पर द्रव्य न मेरे, मेरा चेतन बाना जी ॥2॥
'द्यानत' जो जाने सो स्याना, नहिं जाने सो दिवाना जी ॥3॥

पाठ 6

जैनधर्म का गौरवशाली इतिहास

गुदड़ी के लाल

उसकी सूरत एवं लिवास, किसी दरिद्रनारायण से कम नहीं था, किन्तु वह अपार धनराशि का स्वामी एवं दिल का भी धनी था। भूखे गुजरात को एक वर्ष तक खिलाने का उत्तरदायित्व लेकर, खेमा जैन ने बादशाह को ही नहीं देश को चकित कर दिया था। उसकी हृदयविशालता का मूल्यांकन शब्दों से नहीं किया जा सकता।

गुजरात का नवाब मोहम्मदशाह, अपने मुसाहबों के साथ बैठा हुआ था, दरबार लगा हुआ था। एक मुसाहब बोला –

हुजूर आजकल बनियों के भी, पर निकल आए हैं, राजदरबार की मान-मर्यादा कुछ समझते ही नहीं।

'क्या हुआ जो आज बनियों के पीछे ही पड़ गये हो ?' नवाब ने जरा मुस्कुराते हुए कहा।

''जहाँपनाह ! बनियों का भाट चन्द्रभाट कहता फिरता है कि 'पहले शाह, फिर बादशाह।''

नवाब ने 'हूँ' कहकर अपने तेवर बदले और चपरासी को बुलाकर कहा –

'चन्द्रभाट को जिस हालत में हो, बुला लाओ।' चपरासी 'जो हुक्म' कहकर, चन्द्रभाट को बुलाने चला गया। कुछ देर बाद, चन्द्रभाट ने चपरासी के साथ दरबार में आकर, नबाव साहब को कोर्नीस की व एक तरफ खड़ा हो गया।

नवाब ने चन्द्रभाट की ओर देखकर डाँटते हुए कहा, 'क्यों जी, आजकल तुम्हारे पर, बढ गये हैं।'

भाट ने आश्चर्य दिखाते हुए कहा – 'क्या हुआ जहाँपनाह !'

नवाब ने क्रोध भरे स्वर में कहा, 'जब चींटी की मौत आती है, तब उसके पर निकल आते हैं।' तुम कहते फिरते हो कि 'पहले शाह, फिर बादशाह।'

भाट ने सुनकर, मुस्करा दिया और कहने लगा – 'जहाँपनाह इसमें झूठ क्या कहा ?'

नवाब ने और क्रोधित होते हुए कहा – 'इसको सिद्ध करना होगा।'

भाट ने उसी मुस्कान के साथ, निडर होकर कहा – 'जहाँपनाह, मैं इसे सिद्ध करके दिखा दूँगा। अगर मैं सिद्ध न कर सका तो आप मेरा सर कलम करवा देना।' कहकर भाट चला गया।

गुजरात में भारी अकाल पड़ा। धरती ने अन्न-जल देना बन्द कर दिया। लोग त्राहि-त्राहि चिल्लाने लगे, पशु-पक्षी भूखों मरने लगे, प्रकृति का कोप देखकर अंशुमाली (सूर्य) भी, अपने प्रखर तेज से तपकर धरती माता को सहयोग देने लगे, पानी बिल्कुल ही नहीं बरसा।

नवाब यह हाल देखकर, अपने मन में सोचने लगा कि यह समय ठीक है, अब चन्द्रभाट की परीक्षा लेनी चाहिए।

चपरासी को भेजकर चन्द्रभाट को बुलवाया और हुक्म दिया 'तुमको एक माह की मोहलत दी जाती है, गुजरात देश में अकाल पड़ा है, लोग भूखे मर रहे हैं। सारे गुजरात को साल भर तक पोसना है। क्या कहते हो ?'

भाट ने कहा – 'कोशिश करता हूँ जहाँपनाह' गुजरात की राजधानी 'पाटण' उस जमाने में, अपनी वैभव समृद्धि से भरपूर थी। बड़े-बड़े सेठों की अट्टालिकाएँ आसमान को छू रही थीं। सेठ धन्नालाल, पन्नालाल, रामलाल आदि कई दुकानें बड़ी ही प्रसिद्ध थीं।

सेठ धन्नालालजी अपनी दुकान पर, मसनद के सहारे बैठे हुए थे। सुबह नौ बज रहे थे। मुनीम गुमास्ते अपने बही-खाते खोलकर, गत दिन का लेखा-जोखा देख रहे थे; कुछ दलाल लोग भी अपने सूत के सौदा के लिए बैठे हुए, सेठजी से बातचीत कर रहे थे।

चन्द्रभाट ने दुकान में प्रवेश करके, सेठ धन्नालालजी को आशीर्वाद दिया और सेठ धन्नालाल के सामने जाकर बैठ गया। सेठ ने भाट को देखकर पूछा, 'क्यों आज उदास कैसे हो ?'

''क्या बताऊँ सेठ जी, आज नवाब साहब ने बुलाया था। एक माह की मोहलत दी है और कहा है, सारे गुजरात को पालना है, साल भर के लिए। यह आप लोगों की इज्जत का सवाल है। मैंने आप लोगों के भरोसे ही कहा था 'पहले शाह, फिर बादशाह।' भाट ने कुछ चिन्तित होते हुए जवाब दिया।

सेठ धन्नालालजी ने आश्वासन देते हुए कहा – 'आप चिन्ता नहीं करें और सबको एकत्रित करके, आज मीटिंग कर लें।' सब लोगों के आ जाने पर चन्द्रभाट ने अपना प्रस्ताव सामने रखकर सब लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा –

'सज्जनो ! आज गुजरात देश अकाल से पीड़ित है, सारे प्राणी त्राहि -त्राहि पुकार रहे हैं। ये दौलत आखिर किस दिन के लिए इकट्ठी कर रखी है। इसका सदुपयोग कर लो। आज तुम्हारी इज्जत का सवाल

है। आज देश को तुम्हीं जैसे, उदार दानियों की जरूरत है। अगर आज तुमने देश से मुँह मोड़ लिया तो, कहीं के न रहोगे और फिर पछताना होगा। इसलिए आज तुम्हारा यह चन्द्रभाट देश के लिए झोली फैलाकर, तुमसे धन माँग रहा है। उदार बनकर जितना भी दे सको, दो।'

इतना कहकर चन्द्रभाट बैठ गया। सेठ धन्नालालजी खड़े होकर कहने लगे, 'भाइयों भाटजी की अपील का मैं समर्थन करता हूँ। इसमें भाटजी की इज्जत का नहीं वरन् अपनी इज्जत का सवाल है, इस वास्ते, उदार बनकर दान देना चाहिए।'

सेठजी के बैठ जाने पर, सब लोगों ने हर्षित होकर एक पार्टी बनाई।

पार्टी में किसी ने एक दिन का भोजन देने का निश्चय किया, किसी ने आधे दिन का। जिससे जो कुछ बना, दिया। महिलाओं ने अपने गहने निकाल कर दिए।

सब कुछ होते हुए भी सारे गुजरात को केवल दो दिन खिलाया जा सके, इतना धन इकट्ठा हुआ। तब, सब लोगों ने सारे गुजरात में भ्रमण करने की ठानी।

गुजरात देश में पाटण की सीमा से, दस कोस की दूरी पर, एक छोटा-सा गाँव, सड़क के किनारे पर ही है। गाँव के बाहर एक बड़ का विशाल वृक्ष था, जिसकी शाखाएँ चारों ओर फैल रही थीं। दिन के ग्यारह बजे का समय था। सूर्यदेव, अपनी प्रखर किरणों से तप रहे थे। उस वृक्ष की छाया में एक नवयुवक, अपनी यात्रा से आक्लान्त होकर, विश्राम कर रहा था। युवक के पहनने के लिए फटी धोती एवं मैला-सा अंगरखा था। माथे पर, फटी सी पगड़ी शोभायमान हो रही थी। पैरों में फटे जूते थे। पास ही एक खड़िया (थैला) रखा हुआ था। उसमें गुड़, नमक, शक्कर व अनाज भरा हुआ था व एक दरी पड़ी थी। युवक निश्चिंतता से बैठा हुआ, विश्राम कर रहा था। इतने में एक बैलगाड़ी सड़क से होकर जा रही थी। जिसमें पाटण के प्रमुख धनपति लोग बैठे हुए थे। युवक ने गाड़ी की तरफ देखा एवं खड़े होकर, उन सेठों से 'जयजिनेन्द्र' कहकर, अपने जैनी होने का प्रमाण दिया, फिर हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहने लगा-

'सेठजी, मेरा घर पास में ही है। भोजन का समय हो चुका है। इस वास्ते, आप, मुझ गरीब की कुटिया पर चलकर, भोजन ग्रहण कर, विश्राम करें तो आपकी बड़ी कृपा होगी।'

सेठ धन्नालालजी ने युवक की तरफ देखा व कहने लगे 'भाई, हम लोगों को बहुत जल्दी जाना है, जरूरी काम से निकले थे, अब घर जा रहे हैं।'

युवक ने बहुत आग्रहपूर्वक कहा - 'सेठजी, बगैर भोजन किए आपका जाना नहीं होगा। आपको मैं ज्यादा देर खोटी नहीं करूँगा।'

युवक का आग्रह देखकर, सेठ धन्नालालजी ने रुकना मंजूर कर लिया। युवक उन लोगों को लेकर घर आया।

गाँव में छोटा-सा खपरैल का घर, उसमें छोटी सी किराने की दुकान थी। युवक ने हृदय से उन लोगों का स्वागत किया, भोजन कराया।

भोजन करने के पश्चात् युवक ने बड़ी ही नम्रतापूर्वक सेठ धन्नालालजी से पूछा – 'आप लोग, किस अभिप्राय से इस तरफ पधारे।'

सेठ धन्नालालजी ने पहले तो टालमटोल की एवं फिर युवक के बहुत आग्रह से सारा हाल बताते हुए कहा – 'नवाब ने एक माह की मोहलत दी है एवं सत्ताईस दिन हो गए हैं; अब केवल तीन दिन में ही गुजरात को खिलाने पुरता द्रव्य इकट्ठा करना है। इससे हम लोग चिन्तित हैं।'

युवक ने नम्रतापूर्वक आग्रह किया कि मेरा भी नाम इस पाटी में लिख लीजिए। सेठजी ने उस युवक की स्थिति देखकर कहा, 'तुम कष्ट मत करो।' लेकिन युवक नहीं माना। सेठजी ने युवक का नाम लिखकर कहा, 'क्या चढा दूँ।' युवक ने पाटी सेठजी से लेकर कहा, 'मैं पिताजी से पूछकर अभी आता हूँ।'

युवक के पिता वृद्धावस्था के कारण, अन्दर कमरे में खाट पर ही रहते थे। युवक ने पिताजी से, उन श्रीमानों के आने का अभिप्राय बताया। युवक के पिता ने सारा हाल सुनकर, कहा –

''खेमा! यह अवसर बार-बार नहीं आने का!! कहावत है 'समय चूकि पुनि का पछताने'; सो बेटा, गंगा में हाथ धो लो, नहीं तो फिर पश्चाताप के सिवा, कुछ हाथ नहीं लगेगा।''

युवक का नाम खेमा देदरानी था। खेमा ने बाहर कलम उठाकर, अपने नाम के सामने ३६५ का अंक भर दिया, जिसका मतलब था कि सारे गुजरात को मैं अकेला ही साल भर तक खिला सकूँगा। सेठ धन्नालालजी ने जब पाटी देखी तो आश्चर्य से कहा, 'यह क्या लिख दिया है'। तब खेमा ने, सेठजी व अन्य लोगों से कहा – 'आप मेरे साथ आइए।'

यों कहकर, खेमा उन लोगों को, अपने मकान में बने तलघर में ले गया। वहाँ जाकर सेठ धन्नालाल जी आदि सबने देखा कि तलघर में हीरे, मोती, माणक, पन्ना, पुखराज आदि; अनेक प्रकार के जवाहरात आदि के ढेर लगे हैं। एक कोने में सोने के पासे रखे हैं। अपार द्रव्यराशि को देखकर, सेठ लोग आश्चर्यचकित हुए एवं कहने लगे – 'आज तक तो हम कहावत में ही सुनते थे कि गुदड़ी के लाल होते हैं, लेकिन आज हमने प्रत्यक्ष देख लिया कि दरअसल गुदड़ी के लाल होते हैं। अब, आप हमारे साथ पाटण के नवाब के पास चलिए। खेमा झट राजी हो गया और उसी वेशभूषा में चलने लगा तो सेठ लोगों ने कहा 'आप वस्त्र बदल लीजिए'। खेमा ने कहा – '**आदमी की पहिचान वस्त्रों से नहीं, बल्कि उसके व्यक्तित्व से होती है।**'

पाटण पहुँचकर, सेठ धन्नालालजी, खेमा व अपने साथियों के साथ नवाब के दरबार में आए। साथ में चन्द्रभाट भी था।

नवाब ने सेठ लोगों से पूछा – 'क्या इन्तजाम हो गया।' तो सेठ लोगों ने पाटी सामने रखकर कहा – 'हाँ, हुजूर हो गया।'

नवाब ने पाटी देखकर, उसमें एक ही आदमी के नाम के आगे ३६५ का आँकड़ा देखकर पूछा – 'यह व्यक्ति कौन है ?'

सेठ धन्नालालजी ने, खेमा को आगे करते हुए कहा – 'ये वे नरपुंगव हैं।'

नवाब ने आश्चर्य से आँखें फाड़कर, खेमा की ओर देखा। सेठ धन्नालालजी ने कहा – 'हुजूर, आप इनके कपड़ों की तरफ मत देखिए। इनके पास जो है, आप गाड़ियाँ भेजकर मँगवा सकते हैं।'

नवाब का सिर लज्जा से झुक गया। उसने चन्द्रभाट से कहा – 'वास्तव में तुमने जो कहा, सिद्ध करके दिखाया।' 'पहले शाह, फिर बादशाह' की उक्ति आज तक चली आ रही है। धन्य है, ऐसे नर शिरोमणि को।

एक बार इन्दौर में, पण्डित देवकीनन्दजी ने, अतिथिसंविभागव्रत का अर्थ पूछे जाने पर, उत्तर दिया था कि हमारी आमदनी का कुछ हिस्सा देश के लिए, समाज के लिए निकालना चाहिए। अकस्मात् कुछ भी आपत्ति आ पड़ने पर (अतिथि), हमारी राशि में से कुछ हिस्सा (संविभाग), हमारे अड़ोसी-पड़ोसियों के लिए भी निकालना चाहिए। सम्यग्दृष्टि के उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य तथा प्रभावनारूप चार अंगों को सामाजिक दृष्टिकोण से ही रखा गया है।

विचारों पर हिंसा की छाया	विचारों पर अहिंसा का प्रकाश
★ मैं जिंदा रहूँ। मैं सुखी रहूँ। मुझे दुनिया के दु:ख से क्या ?	★ सब जिंदा रहें। सब सुखी रहें। किसी को कोई दु:ख न हो।
★ समस्त संसार जीवसुंकल है। **जीवो जीवस्य भोजनं** - यह बात भी सर्वथा ठीक है। फिर किसी के मरने जीने की चिंता कहाँ तक की जावे ?	★ समस्त संसार जीवराशि से व्याप्त है, यह सत्य है, तथापि उनकी संभावित रक्षा करना, हमारा कर्त्तव्य है। फल अपने भावों का है, किसी के मरने-जीने का नहीं।
★ जब जिसको जिसके हाथ से मरना है, उसे कौन बचा सकता है ?	★ मरना जीना संसार का क्रम है, इसके लिए हम निरुपाय हैं। लेकिन हम प्रयत्न पूर्वक दूसरों की रक्षा करें, यह हमारा जीवनधर्म अवश्य है।
★ मैं राजा हूँ। राज्यमंत्री हूँ अथवा अमुक अधिकार संपन्न हूँ। मैं जो चाहूँगा वही होगा। आपका काम मेरी आज्ञा मानना है ?	★ भाई साहब ! मैं जो कुछ भी हूँ, आपका सेवक ही हूँ। आपकी सेवा ही मेरा कर्त्तव्य व धर्म है। मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझूँ, यदि आप सबके कुछ काम आ सकूँ।

पाठ 11

लक्षण और लक्षणाभास

अभिनव धर्मभूषण यति

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व; 1358- 1418 ई.)

धर्मभूषण नाम के कई जैन साहित्यकार हुए हैं। उन सबसे पृथक् बतलाने के लिए इनके नाम के आगे अभिनव शब्द और अन्त में यति शब्द जुड़ा मिलता है। ये कुन्दकुन्दाम्नायी थे और इनके गुरु का नाम वर्धमान था।[1] इनका अस्तित्व 1358से 1418ई. तक माना जाता है।[2]

इनके प्रभाव और व्यक्तित्व सूचक जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि ये अपने समय के बड़े ही प्रभावशाली व्यक्तित्ववाले महापुरुष थे। राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि से विभूषित, प्रथम देवराय इनके चरणों में मस्तक झुकाया करते थे।[3]

जैनधर्म की प्रभावना करना तो इनके जीवन का व्रत था ही, किन्तु ग्रन्थ-रचना कार्य में भी इन्होंने अपनी अनोखी सूझ-बूझ, तार्किक शक्ति और विद्वत्ता का पूरा-पूरा उपयोग किया है। आज हमें इनकी एकमात्र अमर रचना 'न्यायदीपिका' प्राप्त है, जिसका जैनन्याय में अपना एक विशिष्ट स्थान है। 'न्यायदीपिका' संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त सुविशद एवं महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें संक्षेप में प्रमाण और नय का तर्कसंगत वर्णन है। यद्यपि न्यायग्रन्थों की भाषा अधिकांशत: दुरूह और गम्भीर होती है किन्तु इस ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुबोध संस्कृत है।

प्रस्तुत पाठ इसके आधार पर ही लिखा गया है।

लक्षण और लक्षणाभास

प्रवचनकार - किसी भी वस्तु को जानने के लिए उसका लक्षण (परिभाषा) जानना बहुत आवश्यक है; क्योंकि बिना लक्षण जाने, उसे पहिचानना तथा सत्यासत्य का निर्णय करना सम्भव नहीं है। वस्तुस्वरूप के सही निर्णय-बिना, उसका विवेचन असम्भव है; यदि किया जाएगा तो जो कुछ भी कहा जाएगा, वह गलत होगा; अत: प्रत्येक वस्तु को गहराई से जानने के पहले, उसका लक्षण जानना बहुत जरूरी है।

1. न्यायदीपिका प्रस्तावना : वीर सेवा मन्दिर सरसावा, पृष्ठ : 92-93
2. वही, पृष्ठ : 99-100, 3. मिडियावल जैनिज्म, पृष्ठ : 299

जिज्ञासु – लक्षण जानना आवश्यक है – यह तो ठीक है, पर लक्षण कहते किसे हैं ? पहले यह तो बताइए।

प्रवचनकार – तुम्हारा प्रश्न ठीक है। किसी भी वस्तु का लक्षण जानने से पहले लक्षण की परिभाषा जानना भी आवश्यक है; क्योंकि यदि हम लक्षण की परिभाषा ही न जानेंगे, तो फिर विवक्षित वस्तु का जो लक्षण बनाया गया है, वह सही ही है – इसका निश्चय कैसे किया जा सकेगा ?

अनेक मिली हुई वस्तुओं (पदार्थों) में से, किसी एक वस्तु (पदार्थ) को पृथक् करनेवाले हेतु को लक्षण कहते हैं।[1]

यही भावार्थ अकलंकदेव ने राजवार्तिक में कहा है –

परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से, कोई एक वस्तु जिसके द्वारा अलग की जाती है, उसे लक्षण कहते हैं।[2]

जिज्ञासु – और लक्ष्य ?

प्रवचनकार – जिसका लक्षण किया जाए, उसे लक्ष्य कहते हैं। जैसे – जीव का लक्षण, चेतना है; इसमें 'जीव' लक्ष्य हुआ और 'चेतना' लक्षण। लक्षण से जिसे पहिचाना जाता है, वही तो लक्ष्य है।

लक्षण दो प्रकार के होते हैं – आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण।

जो लक्षण, वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो, उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे – अग्नि की उष्णता। उष्णता, अग्नि का स्वरूप होती हुई जलादि पदार्थों से उसे पृथक् करती है; अत: उष्णता, अग्नि का आत्मभूत लक्षण है। **जो लक्षण, वस्तु से मिला हुआ न हो; उससे पृथक् हो, उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं।** जैसे – दण्डवाला पुरुष (दण्डी) का दण्ड। यद्यपि दण्ड पुरुष से भिन्न है, फिर भी वह अन्य पुरुषों से उसे पृथक् करता है; अत: वह अनात्मभूत लक्षण हुआ।

राजवार्तिक में भी इन भेदों का स्पष्टीकरण इसी प्रकार किया है – 'अग्नि की उष्णता, आत्मभूत लक्षण है और देवदत्त का दण्ड, अनात्मभूत लक्षण है।'[3]

आत्मभूत लक्षण, वस्तु का स्वरूप होने से वास्तविक लक्षण है; त्रिकाल वस्तु की पहिचान उससे ही की जा सकती है। अनात्मभूत लक्षण, संयोग की अपेक्षा से बनाया जाता है; अत: वह संयोगवर्ती वस्तु

---

1. 'व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्।' – न्यायदीपिका, पृष्ठ, 5
2. 'परस्परव्यतिकरे सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।' – न्यायदीपिका, पृष्ठ, 6
3. 'तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्ड:।' – न्यायदीपिका : पृष्ठ, 6

की संयोगरहित अन्य वस्तुओं से भिन्न पहिचान कराने का, मात्र तत्कालीन बाह्यप्रयोजन सिद्ध करता है। त्रिकाली असंयोगी वस्तु (वस्तुस्वरूप) का निर्णय करने के लिए, आत्मभूत (निश्चय) लक्षण ही कार्यकारी है। असंयोगी आत्मतत्त्व का ज्ञान उससे ही हो सकता है।

किसी भी वस्तु का लक्षण बनाते समय, बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है; क्योंकि वही लक्षण आगे चलकर परीक्षा का आधार बनता है। यदि लक्षण सदोष हो, तो वह परीक्षा की कसौटी को सहन नहीं कर सकेगा और गलत सिद्ध हो जायेगा।

जिज्ञासु – तो लक्षण सदोष भी होते हैं ?

प्रवचनकार – लक्षण तो, निर्दोष लक्षण को ही कहते हैं। **जो लक्षण सदोष हों, उन्हें लक्षणाभास कहा जाता है।** लक्षणाभासों में तीन प्रकार के दोष पाए जाते हैं –

1. अव्याप्ति, 2. अतिव्याप्ति, और 3. असम्भव-दोष।

लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्तिदोष कहते हैं। जैसे – गाय का लक्षण, साँवलापन या पशु का लक्षण, सींग कहना। साँवलापन सभी गायों में नहीं पाया जाता है; इसी प्रकार सींग भी सभी पशुओं के नहीं पाए जाते हैं; अत: ये दोनों लक्षण अव्याप्ति-दोष से युक्त हैं।[1]

जिज्ञासु – यदि गाय का लक्षण सींग मानें तो ..... ?

प्रवचनकार – तो फिर वह लक्षण, अतिव्याप्ति-दोष से युक्त हो जावेगा; क्योंकि **जो लक्षण, लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहे, उसे अतिव्याप्ति-दोष से युक्त कहते हैं।**[2]

जिज्ञासु – यह अलक्ष्य क्या है ?

प्रवचनकार – **लक्ष्य के अतिरिक्त दूसरे पदार्थों को अलक्ष्य कहते हैं।** यद्यपि सब गायों के सींग पाए जाते हैं; किन्तु सींग, गायों के अतिरिक्त अन्य पशुओं के भी तो पाए जाते हैं। यहाँ 'गाय' लक्ष्य है और 'गाय को छोड़कर, अन्य पशु' अलक्ष्य हैं तथा दिया गया लक्षण, 'सींगों का होना', लक्ष्य 'गायों' और अलक्ष्य 'गायों के अतिरिक्त अन्य पशुओं' में भी पाया जाता है; अत: यह लक्षण, अतिव्याप्ति-दोष से युक्त है।

लक्षण ऐसा होना चाहिए जो पूरे लक्ष्य में तो रहे, किन्तु अलक्ष्य में न रहे। पूरे लक्ष्य में व्याप्त न होने पर, अव्याप्ति और लक्ष्य या अलक्ष्य में व्याप्त होनेपर अतिव्याप्ति-दोष आता है।

जिज्ञासु – और असम्भव ?

---

1. 'लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तं, यथा – गो: शावलेयत्वं।' – न्यायदीपिका, पृष्ठ, 7
2. लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तं यथा तस्यैव पशुत्वं। – न्यायदीपिका, पृष्ठ, 7

प्रवचनकार – **लक्ष्य में लक्षण की असम्भवता को असम्भव-दोष कहते हैं।** जैसे – 'मनुष्य का लक्षण सींग।' यहाँ मनुष्य, लक्ष्य है और सींग का होना, लक्षण कहा जाता है; अतः यह लक्षण, असम्भव- दोष से युक्त है।[1]

मैं समझता हूँ अब तो लक्षण और लक्षणाभासों का स्वरूप तुम्हारी समझ में अच्छी तरह आ गया होगा ?

श्रोता – आ गया ! अच्छी तरह आ गया !!

प्रवचनकार – आ गया तो बताओ 'जिसमें केवलज्ञान हो, उसे जीव कहते हैं', क्या जीव का यह लक्षण सही है ?

श्रोता – नहीं, क्योंकि यहाँ जीव, 'लक्ष्य' है और केवलज्ञान, 'लक्षण'। लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्य में रहना चाहिए, किन्तु केवलज्ञान सब जीवों में नहीं पाया जाता है; अतः यह लक्षण, अव्याप्ति-दोष से युक्त है। यदि इस लक्षण को सही मान लें तो मति-श्रुतज्ञानवाले हम और आप, सब अजीव ठहरेंगे।

प्रवचनकार – तो मति-श्रुतज्ञान को जीव का लक्षण मान लो।

श्रोता – नहीं ! क्योंकि ऐसा मानेंगे तो अरहन्त और सिद्धों को अजीव मानना होगा, क्योंकि उनके मति-श्रुतज्ञान नहीं है; अतः इसमें भी अव्याप्ति-दोष है।

प्रवचनकार – तुमने ठीक कहा। अब कोई दूसरा श्रोता उत्तर देगा; जो अमूर्तिक हो, उसे जीव कहते हैं, क्या यह ठीक है ?

श्रोता – हाँ, क्योंकि अमूर्तिक तो सभी जीव हैं; अतः इसमें अव्याप्ति-दोष नहीं है।

प्रवचनकार – यह लक्षण भी ठीक नहीं है। यद्यपि इसमें अव्याप्ति-दोष नहीं है, किन्तु अतिव्याप्ति-दोष है; क्योंकि जीवों के अतिरिक्त आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य भी तो अमूर्तिक हैं। उक्त लक्षण में 'जीव' है, लक्ष्य और 'जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्य यानि दूसरे सभी अजीवद्रव्य' हुए अलक्ष्य। यद्यपि सब जीव, अमूर्तिक हैं, किन्तु जीव के अतिरिक्त आकाशादि द्रव्य भी तो अमूर्तिक हैं; मूर्तिक तो एकमात्र पुद्गलद्रव्य ही है; अतः उक्त लक्षण, लक्ष्य के साथ अलक्ष्य में भी व्याप्त होने से, अतिव्याप्ति-दोष से युक्त है। यदि 'जो अमूर्तिक, सो जीव' – ऐसा माना जाएगा, तो फिर आकाशादि अन्य चार द्रव्यों को भी जीव मानना होगा।

जिज्ञासु – यदि आत्मा का लक्षण वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवान माना जाए तो ?

प्रवचनकार – यह बात तुमने खूब कही ! क्या सो रहे थे ? यह तो असम्भव बात है। आत्मा में

---

1. 'बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि यथा नरस्य विषाणित्वम्।' – न्यायदीपिका, पृष्ठ, 7

वर्णादिक का होना, सम्भव ही नहीं है। इसमें तो असम्भव नामक दोष आता है, ऐसे ही दोष को तो असम्भव-दोष कहा जाता है।

जिज्ञासु - इन लक्षणों में तो आपने दोष बता दिये, तो फिर आप बताइए न कि जीव का सही लक्षण क्या होगा ?

प्रवचनकार - जीव का सही लक्षण, चेतना अर्थात् उपयोग है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है - 'उपयोगो लक्षणम्।' न इसमें अव्याप्ति-दोष है, क्योंकि चेतना (उपयोग), सभी जीवों के पाया जाता है और न अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि उपयोग, जीव के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में नहीं पाया जाता है और असम्भव-दोष तो हो ही नहीं सकता है; क्योंकि सब जीवों के उपयोग (चेतना) स्पष्ट देखने में आता है।

इसी प्रकार प्रत्येक लक्षण पर घटित कर लेना चाहिए और नवीन लक्षण बनाते समय, इन बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

श्रोता - एक-दो उदाहरण देकर और समझाइए न ?

प्रवचनकार - नहीं, समय हो गया है। मैंने एक उदाहरण अन्तरंग यानि आत्मा का और एक उदाहरण बाह्य यानि गाय, पशु आदि का देकर समझा दिया है, अब तुम स्वयं अन्य पर घटित करना। यदि समझ में न आवे तो आपस में चर्चा करना। फिर भी समझ में न आवे तो कल फिर मैं विस्तार से अनेक उदाहरण देकर समझाऊँगा।

ध्यान रखो, समझ में, समझने से आता है, समझाने से नहीं; अतः स्वयं समझने के लिए प्रयत्नशील व चिन्तनशील बनना चाहिए।

प्रश्न -

1. लक्षण किसे कहते हैं ?
2. लक्षणाभासों में कितने प्रकार के दोष होते हैं ? नामसहित लिखिए।
3. निम्नलिखित में परस्पर अन्तर बताइए -
   (क) आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण। (ख) अव्याप्ति-दोष और अतिव्याप्ति-दोष।
4. निम्नलिखित कथनों की परीक्षा कीजिए -
   (क) जो अमूर्तिक हो, उसे जीव कहते हैं। (ख) गाय को पशु कहते हैं।
   (ग) पशु को गाय कहते हैं। (घ) जो खट्टा हो, उसे नींबू कहते हैं।
   (च) जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हो, उसे पुद्गल कहते हैं।
5. अभिनव धर्मभूषण यति के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

नीरव निर्झर

सामायिक-पाठ

(वीर छन्द)

प्रेमभाव हो सब जीवों से, गुणी जनों में हर्ष प्रभो।
करुणा-स्रोत बहे दुखियों पर, दुर्जन में मध्यस्थ विभो॥

यह अनन्त बल-शील आतमा, हो शरीर से भिन्न प्रभो।
ज्यों होती तलवार म्यान से, वह अनन्त बल दो मुझको॥

सुख-दुःख, बैरी बन्धु वर्ग में काँच कनक में समता हो।
वन उपवन, प्रासाद-कुटी में, नहीं खेद नहिं ममता हो॥

जिस सुन्दरतम पथ पर चलकर, जीते मोह मान मन्मथ।
वह सुन्दर-पथ ही प्रभु मेरा, बना रहे अनुशीलन पथ॥

एकेन्द्रिय आदिक प्राणी की, यदि मैंने हिंसा की हो।
शुद्ध हृदय से कहता हूँ वह, निष्फल हो दुष्कृत्य प्रभो॥

मोक्षमार्ग प्रतिकूल प्रवर्तन, जो कुछ किया कषायों से।
विपथ-गमन सब कालुष मेरे, मिट जावें सद्भावों से॥

चतुर वैद्य विष विक्षत करता, त्यों प्रभु! मैं भी आदि उपान्त।
अपनी निन्दा आलोचन से, करता हूँ पापों को शान्त॥

सत्य अहिंसादिक व्रत में भी, मैंने हृदय मलीन किया।
व्रत-विपरीत प्रवर्तन करके, शीलाचरण विलीन किया॥

कभी वासना की सरिता का, गहन-सलिल मुझ पर छाया।
पी-पी कर विषयों की मदिरा, मुझमें पागलपन आया॥

मैंने छली और मायावी, हो असत्य आचरण किया।
पर-निन्दा, गाली चुगली जो, मुँह पर आया वमन किया॥

निरभिमान उज्ज्वल मानस हो, सदा सत्य का ध्यान रहे।
निर्मल जल की सरिता सदृश, हिय में निर्मल ज्ञान बहे॥

मुनि चक्री शक्री के हिय में, जिस अनन्त का ध्यान रहे।
गाते वेद पुराण जिसे, वह परम देव मम हृदय रहे॥

दर्शन-ज्ञान स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये।
परम ध्यान गोचर परमातम, परम देव मम हृदय रहे॥

जो भव दुख का विध्वंसक है, विश्व विलोकी जिसका ज्ञान।
योगी-जन के ध्यानगम्य वह, बसे हृदय में देव महान॥

मुक्ति-मार्ग का दिग्दर्शक है, जन्म-मरण से परम अतीत।
निष्कलंक त्रैलोक्य दर्शि वह, देव रहे मम हृदय समीप॥

निखिल-विश्व के वशीकरण में, राग रहे ना द्वेष रहे।
शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूपी, परम देव मम हृदय रहे॥

देख रहा जो निखिल विश्व को, कर्म कलंक विहीन विचित्र।
स्वच्छ विनिर्मल निर्विकार वह, देव करे मम हृदय पवित्र॥

कर्म-कलंक अछूत न जिसका, कभी छू सके दिव्य प्रकाश।
मोह-तिमिर को भेद चला जो, परम शरण मुझको वह आप्त॥

जिसकी दिव्य ज्योति के आगे, फीका पड़ता सूर्य प्रकाश।
स्वयं ज्ञानमय स्व-पर प्रकाशी, परम शरण मुझको वह आप्त॥

जिसके ज्ञानरूप दर्पण में, स्पष्ट झलकते सभी पदार्थ।
आदि-अन्त से रहित शान्त शिव, परम शरण मुझको वह आप्त॥

जैसे अग्नि जलाती तरु को, तैसे नष्ट हुए स्वयमेव।
भय-विषाद-चिन्ता सब जिसके, परम शरण मुझको वह देव॥

तृण चौकी शिल शैल शिखर नहीं, आत्मसमाधि के आसन।
संस्तर, पूजा, संघ सम्मिलन, नहीं समाधि के साधन॥

इष्ट-वियोग, अनिष्ट-योग में, विश्व मनाता है मातम।
हेय सभी है विषय वासना, उपादेय निर्मल आतम॥

बाह्य जगत कुछ भी नहीं मेरा, और न बाह्य जगत का मैं।
यह निश्चय कर छोड़ बाह्य को, मुक्ति हेतु नित स्वस्थ रमें॥

अपनी निधि तो अपने में है, बाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृगतृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ॥

अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है॥

तन से जिसका ऐक्य नहीं, हो सुत-तिय-मित्रों से कैसे।
चर्म दूर होने पर तन से, रोम समूह रहे कैसे॥

महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़ देह संयोग।
मोक्ष महल का पथ है सीधा, जड़ चेतन का पूर्ण वियोग॥

जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प जालों को छोड़।
निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व आतमा, फिर-फिर लीन उसी में हो॥

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते॥

अपने कर्म सिवाय जीव को, कोई न फल देता कुछ भी।
पर देता है यह विचार तज, स्थिर हो छोड़ प्रमादी बुद्धि॥

निर्मल, सत्य, शिवं, सुन्दर है, 'अमितगति' वह देव महान।
शाश्वत निज में अनुभव करते, पाते निर्मल पद निर्वाण॥

जैन विज्ञान

सन् 1935 की बात है, महात्मा गाँधी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति होकर इंदौर आए थे। एक दिन उनके भाषण का प्रोग्राम मिल-मजदूरों के लिए रखा गया। विसकोपार्क में इंदौर-नरेश की अध्यक्षता में सभा का आयोजन प्रातः 5 से 6बजे तक किया गया। हजारों मिल-मजदूरों के अतिरिक्त नगर के प्रायः सभी गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। मैं भी रा० ब० सेठ लालचंद सेठी के साथ वहाँ उपस्थित था। महात्माजी ने मिल-मजदूरों को लक्ष्य करके अपना भाषण दिया और कहा—भले ही तुम लोग मिलों के भीतर मशीनों से कपड़ा बनाते हो, फिर भी तुम्हें अपने हाथ से काते गए सूत के कपड़े बुनकर पहनना चाहिए। इसी प्रकार हाथ-चक्की का पिसा हुआ आटा खाना चाहिए, क्योंकि मशीन से पिसे हुए आटे के विटामिन (पोषक तत्त्व) नष्ट हो जाते हैं। चावल भी हाथ का कुटा हुआ खाना चाहिए, क्योंकि मशीन से दले चावलों के अधिकांश विटामिन नष्ट हो जाते हैं। यही बात मशीन से निकले हुए तेल आदि में भी है। इसलिए तेली की घानी से निकला हुआ तेल ही काम में लेना चाहिए। इस प्रकार गृह उद्योगों पर जोर देकर महात्माजी ने अपना भाषण एक घंटे की बजाय 50 मिनिट में समाप्त कर दिया। महात्माजी के अतिरिक्त केवल इंदौर-नरेश ही बोलनेवाले थे और उनका लिखित भाषण 5 मिनिट से अधिक का नहीं था। अतएव उन्होंने एक जिज्ञासाभरी दृष्टि श्रोताओं के ऊपर दौड़ाई, जिसका अभिप्राय यह था कि यदि और कोई वक्ता बोलना चाहे, तो थोड़ा सा समय उसे दिया जा सकता है। मैंने उनकी अर्थ-भरी दृष्टि को समझा और एक पर्ची पर अपना नाम लिखकर बोलने के लिए तीन मिनिट का समय माँगा। पर्ची हाथ में आते ही इंदौर-नरेश ने मेरा नाम माइक पर कहा। मैंने खड़े होकर अपना भाषण जारी करते हुए कहा—''अभी-अभी महात्माजी ने जिस हाथ-चक्की से पिसे हुए आटे में विटामिन होने की बात कही है। मैं उसी से आगे की बात बतला रहा हूँ। हाथ से पीसे हुए आटे में भी वे विटामिन वर्षाकाल में तीन दिन तक, ग्रीष्मकाल में पाँच दिन तक और शीतकाल में सात दिन तक रहते हैं, उसके बाद आटे के विटामिन्स नष्ट हो जाते हैं और वह खाने के योग्य नहीं रहता। इसी प्रकार हाथ से बने हुए गुड़ और घानी से निकाले हुए तेल आदि के विटामिनों की मर्यादा बतलाई गई है, जो कि उसके भीतर पोषक-तत्त्व रहते हैं। मर्यादा के बाहर होने पर उनकी पोषकता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक भक्ष्य पदार्थ की पोषकता की मर्यादा बतलाई गई है। सो विशेष जिज्ञासु को इसके लिए जैनग्रंथ देखना चाहिए'' इतना कहकर मैं अपने स्थान पर बैठ गया। महात्मा गाँधी ने मेरी उसी पर्ची की पाठी पर लिखकर पूछा कि उस ग्रंथ का क्या नाम है और वह कहाँ से मिल सकता है? मैंने पर्ची पर ग्रंथ का नाम 'क्रियाकोष' लिखकर और पाने का पता भी लिखकर महात्माजी से कहा—उसमें भक्ष्य अभक्ष्य की मर्यादा के रूप में ही प्रत्येक खाद्य वस्तु की मर्यादा बतलाई गई है, जिसका अभिप्राय यही है कि जब तक वस्तु में पोषकतत्त्व रहते हैं, तब तक वह भक्ष्य है और जब वे नष्ट हो जाते हैं, जब उनमें जीवादि की उत्पत्ति होने लगती है, तो वे अभक्ष्य हो जाते हैं। यह सुनकर महात्माजी ने एक नजर मेरे ऊपर डाली और मैं आनंद से गद्‌गद् हो गया।

(पण्डित हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री)

तीर्थधाम चिदायतन

निर्माणाधीन तीर्थधाम चिदायतन के विशाल संकुल में स्थापित,
श्री शान्तिनाथ अस्थायी जिनालय के दर्शन हेतु अवश्य पधारें।

पंजीकृत कार्यालय :
श्री शान्तिनाथ-अकम्पन-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट,
'विमलांचल', हरीनगर, अलीगढ़-202001 (उत्तरप्रदेश) भारत।
Ph: 0571-2410010 / 11 / 12
E-mail: info@mangalayatan.com | www.mangalayatan.com

निर्माण-कार्यालय एवं स्वागत कक्ष :
तीर्थधाम चिदायतन
हस्तिनापुर, मेरठ-250404 (उत्तरप्रदेश) भारत।
Ph: +91 9412749670 E-mail: info@chidayatan.com | www.chidayatan.com

निर्माणस्थल :
तीर्थधाम चिदायतन
दूसरी नसियाँजी से आगे,
हस्तिनापुर, मेरठ-250404 (उत्तरप्रदेश) भारत।
(सम्पर्क : +91 9837079003, श्री मुकेशचन्द जैन, मेरठ)

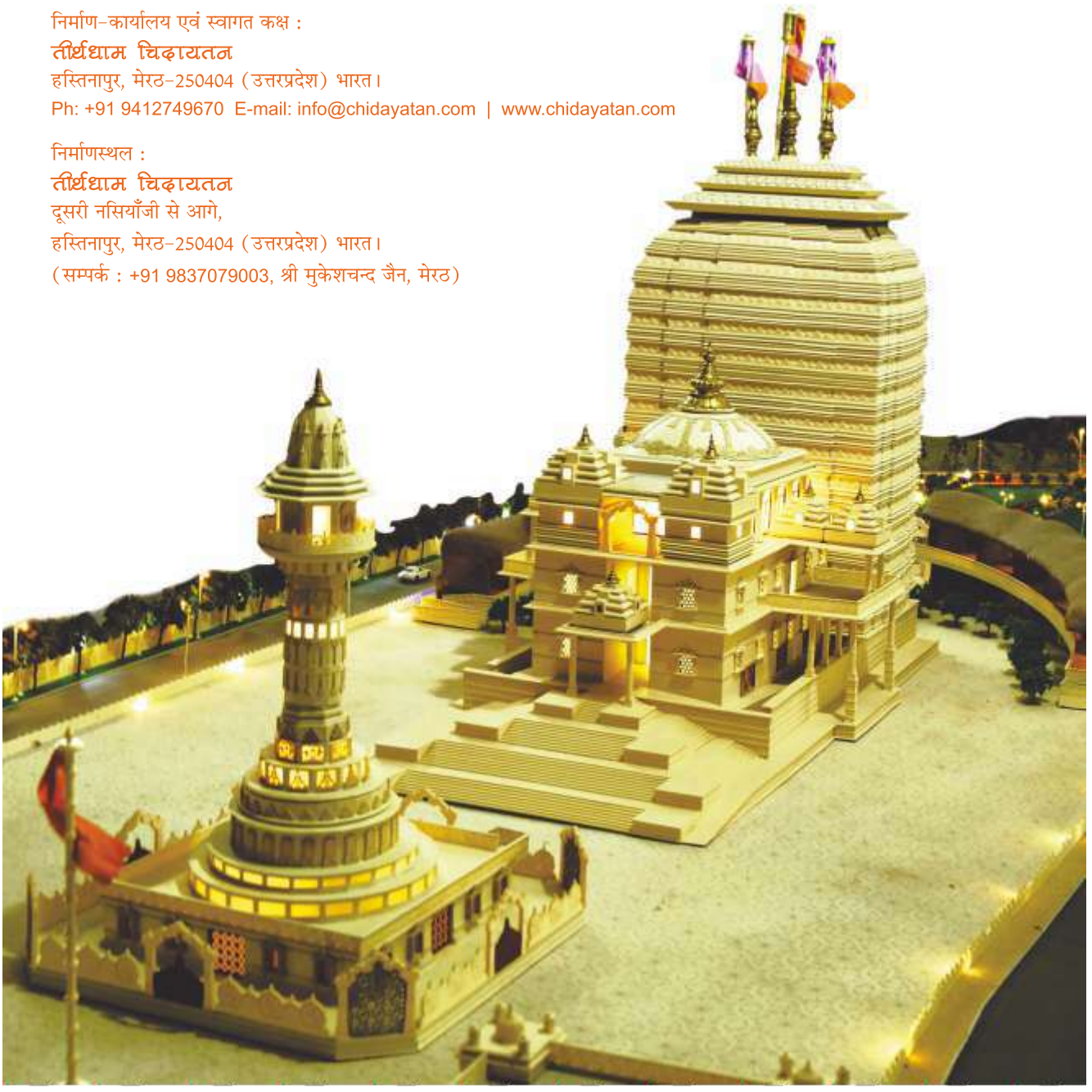

भारत में उत्तरप्रदेश प्रांत की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१ वीं शती का
विशुद्ध जिनायतन संकुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थ धाम मङ्गलायतन

प्रमुख दर्शनीय स्थल:

- कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थंकरों की निर्वाणस्थलियां-
- कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुर, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
- भगवान महावीर मन्दिर
- भगवान बाहुबली मन्दिर
- पंडित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केंद्र
- आचार्य समन्तभद्र आत्मचिंतन केंद्र
- धन्य मुनिदशा
- आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
- भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

मङ्गल प्रकल्प:

email : info@mangalayatan.com
website: www.mangalayatan.com

मूल्य 35/-